

मई 2013 मूल्य: 20 रुपए

साप्ताहिक वार्ता

लातीनी अमरीका की नई खोज



कहानी एक मजदूर अस्पताल की

□ नए इंडिया की फिल्में □ वैश्वीकरण का मंथन □ किस्सा एक
माल का □ बिहार में शिक्षकों पर लाठी □ पोस्को का संग्राम

विधान और व्यवस्था के रक्षक प्रभु

एर्नेस्तो कार्देनाल

विधान और व्यवस्था के रक्षक प्रभुओं

तुम्हारा न्याय क्या शायद वर्गीय न्याय नहीं है?
दीवानी अदालतें निजी संपत्ति की रक्षा के लिए,
फौजदारी अदालतें दबे हुआओं को दबाने के लिए।

तुम्हारी स्वाधीनता का अर्थ है पूंजी की स्वाधीनता
तुम्हारे मुक्त विश्व का आशय है शोषण की स्वतंत्रता

तुम्हारा कानून है एक बंदूक
और तुम्हारी व्यवस्था एक जंगल।

पुलिस भी तुम्हारी, न्यायाधीश भी तुम्हारे
तुम्हारी जेलों में नहीं कोई जर्मीदार-साहूकार बंद
पूंजीपति अपनी मां की गोद से ही
हो जाता है पथभ्रष्ट
जन्म से ही वह साथ लाता है अपने वर्ग के आग्रह
जन्म से ही उसके पास होती है
उसके विष की थैली
बाघ की तरह जनमता है आदमखोर।

हे प्रभु नाश करो यथास्थिति का
तोड़ो कुलीनतंत्र के विषदंत
उन्हें बह जाने दो पानी की तरह नाली में
उन्हें सूख जाने दो जैसे खरपतवार सूखता है
खरपतवार-नाशक से।

जब क्रांति आती है वे बन जाते हैं पेट के कीड़े
जीव कोशाएं नहीं रोगाणु हैं वे
वे नए मनुष्य की भ्रूण हत्या हैं,
उन्हें बहिष्कृत करो
काटे उगाने से पहले ही
उन्हें उखाड़ फेंकने दो ट्रेक्टर को।

साधारणजन स्वयं ही तय करेंगे अपने मसलान
अपनी विशिष्ट सभाओं में
निजी उद्यमों को वे लेंगे अपने हाथ में
न्यायी मनुष्य खुशी मनाएगा जन अदालत में
विशाल चौराहों पर हम मनाएंगे
क्रांति की जयंती का उत्सव

अस्तित्ववान ईश्वर सिर्फ ईश्वर है सामान्यजन का।

चिली के पाब्लो नेरुदा के बाद निकारागुआ के एर्नेस्तो कार्देनाल लातीनी अमरीका के दूसरे कवि हैं
जिनकी आवाज समूची मानवता की आवाज बन सकी है। 1925 में जन्मे एर्नेस्तो कार्देनाल एक रोमन
कैथोलिक पादरी रहे हैं। वे लिबरेशन थियोलॉजी की धारा के प्रतिनिधि हैं। बाद में जब निकारागुआ में वामपंथी
सांदिनिस्ता सरकार बनी तो कार्देनाल उसके संस्कृति मंत्री बने।

अंग्रेजी से इस कविता का अनुवाद मंगलेश डबराल ने किया है और इसे 'तनाव' पत्रिका के अक्टूबर-
दिसंबर 1987 अंक से लिया गया है।

सामयिक वार्ता

मई 2013, वर्ष 36, अंक 9-10

संस्थापक संपादक: किशन पटनायक

संपादक: सुनील

उपसंपादक: बाबा मायाराम

संपादन सहयोग:

सत्येन्द्र रंजन, अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन,
प्रियदर्शन, अरुण त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव

परामर्श मंडल:

सच्चिदानंद सिन्हा, अशोक सेकसरिया,
योगेन्द्र यादव, कश्मीर उप्पल

कार्यालय: सामयिक वार्ता, द्वारा चंद्रशेखर

मिश्रा, दूसरी लाइन, इटारसी, जिला

होशंगाबाद, म.प्र. पिन 461111

फोन: 09425040452, 9424437330

(संपादन) 09993737039 (प्रबंध)

ई-मेल varta3@gmail.com

सदस्यता शुल्क

वार्षिक शुल्क: 100 रूपए

संस्थागत वार्षिक शुल्क: 200 रूपए

पांच वर्षीय शुल्क: 600 रूपए

आजीवन शुल्क: 2000 रूपए

सदस्यता शुल्क चेक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर द्वारा
'सामयिक वार्ता ट्रस्ट' के नाम से दफ्तर के पते
पर भेजें।

सदस्यता/सहायता/एजेंसी की राशि कोर बैंकिंग
के जरिए पंजाब नेशनल बैंक में कहीं भी उपरोक्त
नाम से खाता क्रमांक 3979000100117987 में
जमा कर सकते हैं। जमा करने की सूचना और
अपना पता हमें पत्र से अवश्य भेजें। आप पहले
से वार्ता के ग्राहक हैं लेकिन वार्ता आप तक
नहीं पहुंची हो तो एक पोस्टकार्ड डालकर हमें
भूल-सुधार का मौका दें।

इस अंक में

13

चावेज का समाजवाद

शिउली वनजा

17

जन आंदोलनों का ज्वार

अश नारायण राय

21

कोचाबांबा की लड़ाई

रेहमत

23

दुनिया की श्रेष्ठ स्वास्थ्य व्यवस्था

रामप्रताप गुप्ता

26

शब्द एक शस्त्र है

एदुआर्दो गालेआनो

32

नए इंडिया की फिल्में

प्रियदर्शन

35

कैसा भोजन पसंद करेंगे जनाब

सुनीता नारायण

37

बैगाओं की बेवर खेती

बाबा मायाराम

39

शाहबाग का युवा विद्रोह

41

म्यांमार की जातीय हिंसा

रामझे बरोड़

43

मजदूरों का एक अस्पताल

पुण्यव्रत गुण

49

वैश्वीकरण का मंथन

सच्चिदानंद सिन्हा

51

लोहिया रचनावली के रचयिता

प्रेम सिंह

लातीनी अमरीका की नई खोज

करीब सवा पांच सौ साल पहले जब भारत के लिए नए समुद्री रास्ते की तलाश में निकले कोलंबस का जहाज एक नई भूमि पर लगा, तो पहले उसे भारत समझने की गलती उसने की। इसीलिए वहां के मूल निवासियों को 'इंडियन' या काले भारतीयों से फर्क करने के लिए 'रेड इंडियन' कहा गया। बाद में उन्होंने इसे 'नई दुनिया' की खोज बताया। हालांकि वह 'नई दुनिया' और 'खोज' यूरोपवासियों के लिए ही थी। दोनों अमरीकी महाद्वीपों में काफी पुराने समय से कई तरह के मानव-समूह रहते थे और कई तरह की सभ्यताएं मौजूद थी। इनमें माया, इन्का, एजटेक जैसी नगरीय सभ्यताएं भी थी और जंगलों में स्वच्छंद घूमने और शिकार करने वाली सभ्यताएं भी थी। यूरोपीय लोगों ने काफी क्रूरता, बर्बरता और छल-कपट के साथ इन सभ्यताओं का नाश किया, जिसको पढ़ने-जानने से पता लगता है कि आधुनिक पूंजीवादी सभ्यता की बुनियाद में क्या है। लेकिन इसकी कहानी फिर कभी।

यूरोप के उपनिवेश बने इन दो महाद्वीपों में 'लातीनी अमरीका' कहलाने वाला भूभाग इन दिनों फिर चर्चा में है। संयुक्त राज्य अमरीका और कनाडा को छोड़कर बाकी सारे 33 देश इसमें शामिल हैं। इन्हें दक्षिण अमरीका, मध्य अमरीका, मेक्सिको और कैरीबियन देशों का समूह भी कहा जा सकता है (देखें नक्शा, पृष्ठ 5)। इन्हें एक साथ रखकर 'लातीनी अमरीका' कहने का एक कारण तो यह है कि कुछ अपवादों को छोड़कर इन देशों की प्रमुख भाषा स्पानी, पुर्तगाली या फ्रांसीसी है जो लैटिन परिवार की है। अंगरेजी इस परिवार से बाहर है। लेकिन दूसरा कारण यह है कि ये सारे देश अमीर, 'विकसित' कहलाने वाले देशों की श्रेणी से बाहर हैं और मध्यम, गरीब पिछड़े देशों के समूह में हैं। जिसे 'तीसरी दुनिया' कहा जाता है, ये उसका हिस्सा हैं। उनकी कहानी भी बाकी गैर-अमीर दुनिया जैसी शोषण, पिछड़ेपन, कंगाली, भ्रष्टाचार और तानाशाही की रही है। लेकिन पिछले एक-डेढ़ दशक से इस कहानी में कई मोड़ आ रहे हैं, कई बदलाव आ रहे हैं। भारत सहित बाकी दुनिया के लोग उनसे काफी कुछ सीख सकते हैं। एक नई बेहतर दुनिया बनाने की इच्छा रखने वालों और

उसके लिए संघर्ष करने वालों के लिए वहां नए प्रयोगों और अनुभवों का खजाना है।

यह एक विडंबना है कि इस खजाने से भारत के लोग मोट तौर पर वंचित हैं। वहां के महत्वपूर्ण घटनाक्रमों से ज्यादातर भारतवासी अनजान हैं। वैश्वीकरण और सूचना क्रांति कितने सतही हैं, उसका एक प्रमाण यह भी है। इसका एक कारण तो यह है कि लातीनी अमरीका की दुनिया अंगरेजी की दुनिया नहीं है। भारत का मीडिया और बौद्धिक जगत आज भी अंगरेजी से आक्रांत, दबा हुआ और उसके कब्जे में हैं। ज्यादातर हम वही पढ़ते और जानते हैं जो अंगरेजी के जरिए हमें परोसा जाता है। भारतीय भाषाओं का मीडिया भी उसी का अनुसरण करता है। इस चक्कर में हम गैर-अंगरेजी दुनिया से कटते जाते हैं।

इसलिए सामयिक वार्ता ने इस अंक में कोशिश की है कि लातीनी अमरीका में जो चल रहा है, उसकी एक झलक हिंदी पाठकों को दिखला दी जाए। सुधि पाठक फिर अपनी खोज शुरू कर देंगे। इससे ज्यादा इस छोटी-सी पत्रिका के दायरे में संभव नहीं है। लातीनी अमरीका को समझने-जानने के लिए तो एक अलग किताब की जरूरत होगी या शायद कई किताबों की जरूरत होगी, जिनका भारी अभाव हिंदी में है। हमें उम्मीद है कि कुछ लोग इसका भी बीड़ा उठाएंगे।

इस अंक में हमने भाषा संबंधी एक और कोशिश की है, जिसे सबसे पहले 'दिनमान' के संपादक रघुवीर सहाय ने शुरू किया था। वह यह कि लातीनी अमरीका से जुड़े नामों व शब्दों को उनके मूल उच्चारण में पेश किया जाए (लेकिन प्रचलित नाम से बहुत अलग होने पर हमने बीच का रास्ता भी अपनाया है)। पूरी दुनिया के नाम और संज्ञाएं हमारे पास अंगरेजी के जरिए आते हैं और इस प्रक्रिया में उनका रूप बिगड़ जाता है। मास्को को 'मस्क्वा' और पीकिंग को 'बीजिंग' लिखना दिनमान ने ही शुरू किया था।

तो आइए, लातीनी अमरीका की खोज के एक नए अभियान पर चल पड़ें। यह अंक कैसा लगा, जरूर बताएं। कमियां भी।

—संपादक मंडल

(इस अंक के लिए हमें गिरधर राठी, पी.कुमार मंगलम और इकबाल अभिमन्यु का महत्वपूर्ण सहयोग मिला है। लेकिन कमियां और गलतियां हमारी हैं।)

लातीनी अमरीका



समाजवाद का नया पाठ

पिछली सदी का अंतिम दशक दुनिया में पूंजीवादी ताकतों के खुश होने का दशक था। सोवियत संघ टूटकर बिखर चुका था, चीन और वियतनाम पूरी तरह पूंजीवादी रास्ते पर चलने लगे थे तथा पूर्वी यूरोप की कम्युनिस्ट सत्ताओं का भी अंत हो चुका था। वित्तीय पूंजी पर आधारित वैश्वीकरण और नवउदारवाद का डंका पूरी दुनिया में बजने लगा था। अमरीकी साम्राज्यवाद को कोई चुनौती नजर नहीं आती थी। पूंजीवाद और वैश्वीकरण का कोई विकल्प नहीं है, ऐसा प्रतीत होने लगा था। 'इतिहास के अंत' की घोषणाएं होने लगी थी। समाजवाद के समर्थक मायूस और हताश होने लगे थे। उनके सारे मॉडल ध्वस्त हो गए थे और वे खुद भ्रमित नजर आते थे। 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया' लिखने वाले किशन पटनायक या सच्चिदानंद सिन्हा जैसे लोग नक्कारखाने में तूती की आवाज मालूम होते थे।

लेकिन सदी बीतते-बीतते और नई सदी के आते-आते इस सन्नाटे को तोड़ा लातीनी अमरीका ने।

खुद लातीनी अमरीका के लिए ये बदलाव काफी बड़े और अप्रत्याशित थे। लातीनी अमरीका को संयुक्त राज्य अमरीका का पिछवाड़ा माना जाता था। वहां की सरकारें तानाशाह हों या लोकतांत्रिक रूप से चुनी गई हों वे सं.रा. अमरीका की पिट्टू हुआ करती थी। सरकारें बनाने-बिगाड़ने में उसका बड़ा हाथ हुआ करता था। फौजी तख्ता-पलट आम बात होती थी। राजनैतिक विरोधियों को यातनाओं और उनकी हत्याओं की भयानक कहानियां भी वहां से आया करती थीं। 'केला देश' जैसा मुहावरा भी लातीनी अमरीका से ही निकला था, जिसका मतलब है कच्चे माल के निर्यात पर आधारित अर्थव्यवस्थाएं जहां विदेशी कंपनियां और उनके दलाल देश को चलाते हों। विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्यक्रमों और नवउदारवादी नीतियों के विनाशकारी परिणामों के विशिष्ट उदाहरण भी लातीनी अमरीका में मिला करते थे।

लेकिन अब तस्वीर बदल चुकी है। बदलाव 1998

में उगो चावेज के वेनेजुएला के राष्ट्रपति बनने के साथ शुरू हुआ, लेकिन चावेज तक सीमित नहीं रहा। चावेज के बाद, एक-एक करके, लातीनी अमरीका के कई देशों में समाजवादी रुझानों वाली सरकारें आई हैं, जिन्होंने शुद्ध पूंजीवाद, नवउदारवाद, वैश्वीकरण या साम्राज्यवाद को कम-ज्यादा रूप से अस्वीकार किया है। इनके मामलों में काफी विविधता है, कई तरह के अनुभव हैं। इनमें काफी कमियां भी हैं। इनकी काफी आलोचना हो सकती है और होनी चाहिए। लेकिन आधुनिक इतिहास में उनका योगदान यह है कि उन्होंने नई उम्मीदें जगाई हैं। वैश्वीकरण और पूंजीवाद की शाश्वतता, सार्वभौमिकता और अजेयता के भ्रम को तोड़ा है। मार्गरेट थैचर के 'टीना' (देयर इज नो आल्टरनेटिव) का जवाब 'सीता' (सोशललिज्म इज द आल्टरनेटिव) से दिया है।

नई सदी, नई इबारतें

इक्कीसवीं सदी के समाजवाद के ये प्रयोग समाजवाद की पारंपरिक मार्क्सवादी अवधारणाओं से काफी अलग हैं। इनमें निजी संपत्ति का खातमा नहीं किया गया, लेकिन संपत्ति (खासतौर पर जमीन) और आमदनी के पुनर्बंटारे पर जोर है। यदि भारत में और बाकी दुनिया में अंधाधुंध निजीकरण का पागलपन चल रहा है और सरकारें अपनी जिम्मेदारी से भाग रही हैं, तो इन देशों में सरकार द्वारा सबको मुफ्त शिक्षा, मुफ्त इलाज, सस्ता भोजन, सस्ता आवास आदि उपलब्ध कराने के व्यापक कार्यक्रम चलाए गए हैं। जनकल्याण के कार्यक्रमों पर या जिसे सामाजिक क्षेत्र कहा जाता है उस पर, बहुत जोर है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का पूरा निषेध या देश निकाला नहीं किया गया, लेकिन इन सरकारों ने उन पर नियंत्रण और उनकी कमाई पर अंकुश लगाने की कोशिश की है। यदि वे नहीं मानी तो उनको बाहर का रास्ता भी दिखाया है। जरूरत पड़ने पर राष्ट्रीयकरण भी किया है।

पुराना वामपंथ ज्यादातर वर्ग के चश्मे से ही चीजों

को देखता रहा। लेकिन लातीनी अमरीका के समाजवाद ने नस्ल, भाषा, लिंग आदि के भेदभावों का भी संज्ञान लिया है। भारत की ही तरह इन देशों में भी नस्ली, भाषाई और सांस्कृतिक बहुलता एवं विविधता काफी है। मूल निवासी, काले (अफ्रीकी मूल के) तथा मिश्रित रक्त वाले लोग गरीब और कमजोर हैं तथा उन्हें कई बार यूरोपीय मूल के गोरे लोग हिंकारत से देखते हैं। वेनेजुएला के राष्ट्रपति उगो चावेज मिश्रित रक्त वाले थे। बोलीविया के राष्ट्रपति इवो मोरालेस के रूप में लातीनी अमरीका में पहली बार कोई मूल निवासी राष्ट्र प्रमुख बना है। मोरालेस आदिवासी हैं, किसान पृष्ठभूमि और किसान आंदोलन से

राजनीति में आए हैं और स्वयं को समाजवादी भी कहते हैं। संगठित क्षेत्र के मजदूरों के जरिए क्रांति होगी और वे क्रांति के अगुआ होंगे, इस मान्यता पर पहले से सवाल उठते रहे हैं। लातीनी अमरीका ने इस पर अस्वीकृति की पक्की मुहर लगा दी है। वेनेजुएला के तेल उद्योग यूनियनों ने जिस तरह चावेज के विरोधियों से हाथ मिलाया, उससे उनकी व्यवस्था-परस्त और प्रतिक्रांतिकारी भूमिका सामने आई। लातीनी अमरीका के बदलावों में मजदूरों के साथ किसानों, भूमिहीनों, हॉकरों, असंगठित क्षेत्र के लोगों, मूल निवासियों, महिलाओं आदि की बड़ी भूमिका रही है और वे ही इसके जनाधार रहे हैं। यह भी नोट करने की बात है कि इस दौर में पहली बार कई देशों में महिलाएं राष्ट्रपति बनी हैं। इस समय लातीनी अमरीका के तीन बड़े देशों- ब्राजील, अर्जन्तीना और चिली - की राष्ट्रप्रमुख महिला हैं।

समाजवाद और लोकतंत्र में जो विरोध अभी तक दिखाई देता था, उसे लातीनी अमरीका ने दूर किया है। संदेश यह है कि नए जमाने का समाजवाद लोकतंत्र के जरिए और लोकतंत्र के साथ ही आएगा।

माक्सवाद की एक और मान्यता पर लातीनी अमरीका ने सवाल उठाया है। वह यह कि धर्म अनिवार्य

रूप से प्रतिक्रांतिकारी और प्रगतिविरोधी होता है। माक्स के शब्दों में धर्म 'जनता की अफीम' है। लातीनी अमरीका में ईसाई धर्म की दोनों तरह की भूमिका रही है। प्रारंभ में मूल निवासियों और उनकी संस्कृति की निंदा और विनाश में उसकी बड़ी सहयोगी भूमिका रही है। लेकिन पिछली एक सदी में गरीबों, वंचितों और गुलामों की तरफ से लड़ने वाले पादरी और चर्च भी सामने आए हैं। लिबरेशन थिओलॉजी या 'मुक्ति का धर्मशास्त्र' भी दुनिया को लातीनी अमरीका की ही देन है। चावेज सदा अपने साथ दो चीजें रखता था-क्रॉस और वेनेजुएला का नया संविधान। पाराग्वे के वर्तमान राष्ट्रपति तो स्वयं एक पादरी हैं। फिदेल कास्त्रो ने पोप को क्यूबा में आमंत्रित किया था। वह घटना भी गौरतलब है, जिसमें अल सल्वाडोर के मुख्य पादरी आर्कबिशप औस्कर रोमेरो की मार्च 1980 में सरेआम एक प्रार्थना सभा में हत्या कर दी गई, क्योंकि वे सं.रा. अमरीका की मदद से चलने वाली अत्याचारी सरकार का खुलकर विरोध करते थे। उसकी अंतिम यात्रा में इस छोटे देश के एक लाख लोग उमड़ पड़े जिन पर सुरक्षा बलों ने फिर गोली चलाई और 200 लोगों को मार दिया।

लोकतंत्र के नए आयाम

लातीनी अमरीका में आए जनपक्षी परिवर्तनों की खास बात यह है कि वे वोट के जरिए आए हैं, बंदूक से नहीं। जनता की मुक्ति के संघर्षों के नजरिये से लातीनी अमरीका में पिछली सदी भूमिगत सशस्त्र गुरिल्ला संघर्षों के नाम रही है। क्यूबा की क्रांति उसी तरह हुई। कई देशों में लगातार असफल कोशिशें भी हुईं। उनके नायकों में एक चर्चित नाम चे ग्वारा का रहा है जो युवाओं का उसी तरह लोकप्रिय हीरो रहा है, जैसे भारत-पाकिस्तान में भगत सिंह हैं। चे ग्वारा बोलिविया में एक असफल क्रांति में मारे गए थे। लेकिन वर्तमान दौर लातीनी अमरीका में एक जबरदस्त लोकतांत्रिक ज्वार का दौर है। इस दौर में कई गुरिल्ला क्रांतिकारी भी अपना रास्ता बदलकर, पार्टी बनाकर चुनावों में भाग ले रहे हैं और उन्हें सफलता भी मिली है। इस वक्त चिली, ब्राजील, उरुग्वे आदि कई देशों के राष्ट्रपति पूर्व गुरिल्ला हैं जो लंबे समय तक जेल में रहे और उन्होंने भीषण यातनाएं झेली हैं। भारत के माओवादी-

नक्सलवादी भी लातीनी अमरीका के अनुभवों पर विचार कर सकते हैं।

लातीनी अमरीका के सबसे चर्चित समाजवादी राष्ट्रपति उगो चावेज ने भी पहले फौज के अंदर सशस्त्र विद्रोह की कोशिश की थी। इसकी असफलता और दो साल की जेल के बाद चावेज ने अपना रास्ता बदला। चावेज को समझ में आया कि जनता को जगाकर, साथ में लेकर ही क्रांतिकारी बदलाव हो सकेंगे और इसके लिए लोकतंत्र के रास्ते को ही आजमाना होगा। फिर तो जब 2002 में खुद निर्वाचित राष्ट्रपति रहते चावेज के खिलाफ तख्ता-पलट हुआ, तब गरीब जनता ने लाखों की तादाद में राष्ट्रपति भवन और सेना-सरकार के मुख्यालयों को घेर लिया तथा तख्ता-पलट करने वालों को मजबूर किया कि वे टापू में कैद चावेज को वापस लाकर सत्ता सौंप दें। दो दिन में जनता की ताकत ने बाजी पलट दी। यह आधुनिक विश्व इतिहास की एक अनोखी घटना है।

तीसरी दुनिया के बाकी देशों की तरह लातीनी अमरीका का पिछली सदी का लोकतंत्र का अनुभव भी मिश्रित रहा है। कई बार नवनिर्वाचित लोकप्रिय राष्ट्रपतियों ने जनता के साथ विश्वासघात करते हुए सं.रा. अमरीका का दामन थाम लिया या विश्व बैंक-मुद्राकोष की नीतियों को आगे बढ़ाते रहे। लेकिन लोकतंत्र के पुराने ढांचे से निराशा और असंतोष ने इस बार तानाशाही को नहीं, लोकतंत्र के नए प्रयोगों को जन्म दिया। वेनेजुएला, बोलिविया और एक्वादोर की समाजवादी सरकारों ने सबसे पहले संविधान सभाएं बनाई और नए संविधानों की रचना की। इनमें नागरिकों के जीने के अधिकार, भोजन के अधिकार, शिक्षा के अधिकार, स्वास्थ्य के अधिकार, आवास के अधिकार, रोजगार के अधिकार आदि के महत्वपूर्ण प्रावधान किए गए। एक्वादोर के संविधान में तो इंसानों के अलावा प्रकृति को भी जिंदा रहने का अधिकार दिया गया, जो पूरी दुनिया में अनूठी चीज है।

एक महत्वपूर्ण नोट करने लायक बात जनमत-संग्रह का भरपूर उपयोग है। महत्वपूर्ण और बुनियादी फैसलों व बदलावों पर सीधे जनता से मंजूरी ली जा रही है। प्रतिनिधि-वापसी के अधिकार (राइट टू रिक्वाल) की इन दिनों भारत में काफी चर्चा हो रही है। वेनेजुएला जैसे देशों में सीधे निर्वाचित राष्ट्रपति को कार्यकाल खत्म होने

के पहले भी जनमत-संग्रह के जरिए वापस बुलाने का प्रावधान किया गया है। भारत के कुछ राज्यों में पंचायतों और नगरपालिकाओं में इस अधिकार को लागू किया गया है, लेकिन सीधे राष्ट्रप्रमुख को वापस बुलाने का यह अधिकार दुनिया में अनूठी, साहसिक और नई चीज है। दिलचस्प बात यह है कि वेनेजुएला में चावेज के द्वारा लाए गए इस प्रावधान का तुरंत पहला इस्तेमाल चावेज के खिलाफ ही हुआ और चावेज ने इसका सफलतापूर्वक सामना किया।

वेनेजुएला में सामुदायिक परिषदों के रूप में नीचे की जनता की भागीदारी तथा प्रत्यक्ष लोकतंत्र के महत्वपूर्ण प्रयोग हुए। नौ कर शही-अफसरशाही को एक तरफ करके सत्ता के विकेंद्रीकरण का यह महत्वपूर्ण प्रयोग है। इसने गांधी, लोहिया और जयप्रकाश के इस आग्रह को मजबूत किया है कि लोकतंत्र की सफलता के लिए उसके साथ विकेंद्रीकरण का मेल जरूरी है। यह खोज का विषय है कि भारत का पंचायती

राज क्यों सफल नहीं हो पाया और वेनेजुएला की सामुदायिक परिषदें क्यों सफल रही।

लातीनी अमरीका में आए लोकतंत्र के ज्वार में एक महत्वपूर्ण भूमिका राजनैतिक दलों के बाहर जनांदोलनों, नागरिक संगठनों, सामाजिक संगठनों और उनकी पहलों की भी रही है। विश्व आर्थिक मंच (वर्ल्ड इकॉनॉमिक फोरम, जिसका सालाना आयोजन दावोस में दुनिया की बड़ी कंपनियों द्वारा किया जाता है) के मुकाबले में विश्व

*वक्त के साथ लातीनी :
अमरीकी पहली उलझती :
चली गई। इसी बीच, :
पिछली सदी के उत्तरार्ध :
में लातीनी अमरीका के :
कई देशों में काफी :
औद्योगीकरण और :
शहरीकरण हुआ। यदि :
औद्योगीकरण को ही :
विकास का पर्याय और :
पिछड़ेपन की रामबाण :
दवा माना जाता है तो :
आज मेक्सिको और :
ब्राजील करीब-करीब :
संयुक्त राज्य अमरीका :
जितने ही औद्योगीकृत :
हो चुके हैं। :*

सामाजिक मंच (वर्ल्ड सोशल फोरम) का आयोजन लातीनी अमरीका के देश ब्राजील से ही शुरू हुआ। इसे वहां की सरकारों का भी भरपूर सहयोग मिला।

कुल मिलाकर, समाजवाद और लोकतंत्र में जो विरोध अभी तक दिखाई देता था, उसे लातीनी अमरीका ने दूर किया है। संदेश यह है कि नए जमाने का समाजवाद लोकतंत्र के जरिए और लोकतंत्र के साथ ही आएगा। लोकतंत्र भी तभी सफल व सार्थक बनेगा जब उसके साथ समाजवाद का मेल होगा। लोकतांत्रिक समाजवाद का एक नया अवतरण लातीनी अमरीका में हुआ है। यह यूरोप की सोशल डेमोक्रेसी से इस मायने में मिलता है कि सरकार द्वारा जनकल्याण की जिम्मेदारी लेने पर इसमें भी जोर है। लेकिन इस मायने में अलग भी है कि इसमें साम्राज्यवाद से टकराने और नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था बनाने के आग्रह दिखाई दे रहे हैं जो यूरोपीय समाजवाद में नदारद रहे हैं। इसलिए इसमें नई संभावनाएं छिपी हैं।

विकास व औद्योगीकरण के अंतर्विरोध

लोकतंत्र बनाम समाजवाद और विकास बनाम वितरण जैसे द्वंद्वों का समाधान पेश करते दिखाई दे रहे लातीनी अमरीका को अभी एक महत्वपूर्ण सवाल का जवाब खोजना बाकी है और इसी सवाल पर इसका भविष्य निर्भर करता है। वह यह है कि यह दुनिया के मौजूदा आर्थिक और पर्यावरणीय संकटों को कैसे देखता है? इसके पास विकास का कोई वैकल्पिक मॉडल है क्या?

कुछ अंतर्विरोध तो अभी दिखाई देने लगे हैं। जैसे बोलीविया में मोरालेस की सरकार द्वारा राजमार्गों के निर्माण से विस्थापित हो रहे मूल निवासियों के आंदोलन पिछले दिनों खबरों में आए हैं। ब्राजील में निर्यात हेतु सोयाबीन की खेती और जैव ईंधन तैयार करने के लिए अमेजन के घने जंगलों को साफ किया जा रहा है। यह भी गौरतलब है कि दुनिया में जीन-अंतरित बीजों के बड़े पैमाने पर इस्तेमाल करने वाले देशों में एक ब्राजील है। तेल, प्राकृतिक गैस, तांबे, सोने आदि की खदानों से स्थानीय निवासियों के जीवन और पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभावों और उसके विरोध की खबरें भी लगातार आती रहती हैं। लातीनी अमरीका की नई सरकारों के विदेशी कंपनियों से टकराव प्राकृतिक संसाधनों को लेकर हुए हैं। लेकिन ये टकराव

देश के अंदर भी मौजूद हैं, जिनका कोई संतोषजनक हल अभी तक नहीं निकल पाया है। यह हल तभी निकलेगा जब मौजूदा विकास मॉडल पर बुनियादी सिरे से पुनर्विचार हो। क्या लातीनी अमरीका का नया समाजवाद इसके लिए तैयार है?

एक तरह से देखें तो खुद लातीनी अमरीका का दो सदियों का इतिहास मौजूदा पूंजीवादी विकास पद्धति पर गहरे प्रश्नचिह्न लगाता है। लातीनी अमरीका के ज्यादातर देश यूरोप (स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस आदि) की अधीनता से उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में ही आजाद हो गए थे। बाकी दुनिया में आजादी बहुत बाद में ज्यादातर बीसवीं सदी में दूसरे विश्वयुद्ध के बाद हासिल हुई। इतने पहले आजाद होने के बाद भी लातीनी अमरीका के देश पिछड़े क्यों रहे हैं? वहां गरीबी क्यों दूर नहीं हो पाई? पहले यह समझाया जाता रहा कि ऐतिहासिक (या सांस्कृतिक) कारणों से लातीनी अमरीका के देश पीछे रह गए हैं। जल्दी ही वे भी आगे बढ़ते जाएंगे और वहां पहुंच जाएंगे जहां अमीर विकसित देश पहुंचे हैं। बात केवल समय की है। लेकिन डेढ़-दो सदी बीत जाने पर भी ऐसा नहीं हुआ, बल्कि खाई बढ़ी है। लातीनी अमरीका के देश आज भी मध्यम या निम्न आय वर्ग की श्रेणी में हैं।

पिछली सदी के साठ दशक में अर्जन्तीना के अर्थशास्त्री राउल प्रेबिश ने प्रतिपादित किया कि अंतरराष्ट्रीय व्यापार को विकास का माध्यम बताया जाता रहा है, जो नाकाफी और गलत है। उन्होंने कहा कि हमें अपने औद्योगीकरण पर जोर देना होगा। आयात की जगह लेने वाले औद्योगीकरण पर इसी तरह का जोर भारत में भी आजादी मिलने के बाद नेहरू-महालनोबिस मॉडल में दिया गया। प्रेबिश के तुरंत बाद लातीनी अमरीका में 'निर्भरता सिद्धांत' (डिपेन्डेन्सी थ्योरी) सामने आया, जिसमें बताया गया कि पिछड़ेपन का कारण पूंजीवादी देशों के साथ गैरबराबर रिश्ता है जिसके तहत पिछड़े देशों की कीमत पर पूंजीवादी देशों का विकास होता है। चिली के अर्थशास्त्री आन्द्रे गुन्दर फ्रेंक ने 'पिछड़ेपन का विकास' (डेवलपमेंट ऑफ अंडरडेवलपमेंट) का मशहूर सिद्धांत दिया। इसके मुताबिक गरीब व पिछड़े देश संयोगवश पिछड़े नहीं हैं। उन्हें पिछड़ा-गरीब बनाया गया है। मुख्य पूंजीवादी देशों में पूंजीवाद के विकास का यह अनिवार्य परिणाम है। इस तरह से उन्होंने पूंजीवाद पर ही सवाल

उठाए। लेकिन उनका मॉडल सोवियत किस्म का औद्योगीकरण था।

वक्त के साथ लातीनी अमरीकी पहली उलझती चली गई। इसी बीच, पिछली सदी के उत्तरार्ध में लातीनी अमरीका के कई देशों में काफी औद्योगीकरण और शहरीकरण हुआ। यदि औद्योगीकरण को ही विकास का पर्याय और पिछड़ेपन की रामबाण दवा माना जाता है तो आज मेक्सिको और ब्राजील करीब-करीब संयुक्त राज्य अमरीका जितने ही औद्योगीकृत हो चुके हैं। पहली दुनिया के कई उद्योग कई कारणों (सस्ते मजदूर, पर्यावरण नाश की छूट आदि) से तीसरी दुनिया में स्थानांतरित हो रहे हैं या हो चुके हैं। लेकिन बहुराष्ट्रीय कंपनियों और गैरबराबर अंतरराष्ट्रीय व्यापार के जरिए इनकी मलाई अभी भी पहली दुनिया को मिल रही है। यह जरूर है कि इन देशों में भी बड़े अमीर पूंजीपति पैदा हो गए हैं। फोर्ब्स की सूची में अब कई बार दुनिया का सबसे अमीर पूंजीपति मेक्सिको का होता है। लेकिन बहुसंख्यक जनता की कंगाली और कष्ट अपनी जगह कायम है। यह तस्वीर आज के भारत से काफी मिलती-जुलती है।

फरवरी 1995 का एक वाकिया है। मेक्सिको की फौज सं.रा. अमरीका के हेलीकॉप्टरों और हथियारों की मदद से ग्वाटेमाला सीमा वाले इलाके में विद्रोही मूल निवासियों के सफाये का अभियान चला रही थी। इसके विरोध में मेक्सिको सिटी में करीब डेढ़ लाख लोगों ने प्रदर्शन किया। इस मौके पर मूल निवासी समुदाय की एक टीवी अभिनेत्री ने उत्तरी अमरीका वालों के लिए जो कुछ कहा, वह गौरतलब है। ओफेनिया मेडिना ने आवेश के साथ कहा, “उन्हें बता दो कि उनकी उपभोक्ता जीवन शैली मेक्सिको के मूल निवासियों के खून की कीमत पर आती है।”

इस वाक्य में आधुनिक विकास और आधुनिक सभ्यता का मर्म छिपा है। आधुनिक जीवन शैली, भोगवाद और उपभोक्ता संस्कृति, आधुनिक औद्योगीकरण, आधुनिक तकनालाजी, राष्ट्रों के बीच और राष्ट्रों के अंदर गैरबराबरी, कंगाली, प्राकृतिक संसाधनों की लूट, प्रकृति से जुड़े समुदायों का विस्थापन, पर्यावरण का संकट, वित्तीय पूंजी पर आधारित तेजी के बुलबुले और उनका फूटना-ये सब परस्पर जुड़ी हुई चीजें हैं। विकास की वैकल्पिक संकल्पना से ही इन गहरे संकटों का समाधान खोजा जा सकेगा।

मजे की बात है कि इस दिशा में एक ठोस पहल भी लातीनी अमरीका के एक छोटे से टापू देश क्यूबा में हुई है। इस साम्यवादी देश को क्रांति के बाद से ही पिछले पचास सालों से ज्यादा समय से सं.रा. अमरीका और उसके मित्र देशों का आर्थिक बहिष्कार और विरोध झेलना पड़ रहा है। उसे सोवियत संघ से अनाज, पेट्रोल, रासायनिक खाद और दूसरी वस्तुएं व मदद मिलती रही थी। लेकिन 1990 के करीब सोवियत संघ के विघटन के साथ ही संकट खड़ा हो गया। तब क्यूबा के शासकों और वैज्ञानिकों ने जैविक खेती को अपनाया, ट्रैक्टरों की जगह वापस बैलों व घोड़ों का इस्तेमाल शुरू किया और शहरों में फालतू पड़ी जगहों पर भी सघन खेती शुरू की। कृषि उत्पादन बढ़ा तथा क्यूबा काफी हद तक स्वावलंबी हो गया। क्यूबा में साइकिलों के प्रयोग में भी काफी बढ़ोतरी हुई है और जड़ी-बूटियों के उपयोग को भी बढ़ावा दिया गया है। इन ठोस व्यवहारिक उपलब्धियों ने दुनिया को एक नई राह दिखाई है। अचरज की बात है कि एक साम्यवादी देश ने ये प्रयोग किए हैं। क्या इसे मार्क्स और गांधी का मेल माना जाए?

कुल मिलाकर, लातीनी अमरीका में बहुत कुछ हो रहा है। जो लोग दुनिया को बदलने की इच्छा रखते हैं और इसे बेहतर व सुंदर बनाना चाहते हैं, उनके लिए लातीनी अमरीका से सीखने के लिए बहुत कुछ है। ऐसा नहीं है कि वहां सब कुछ अच्छा और आदर्श है। उनमें कमियां, सीमाएं और अंतर्विरोध भी हैं, लेकिन उनसे भी सीखा जा सकता है। ऐसा भी नहीं है कि इक्कीसवीं सदी के समाजवाद के इस पाठ में सब कुछ नया और अनूठा है। गांधी, लोहिया और जयप्रकाश जैसे भारत के समाजवादी विचारकों में उनकी गूंज सुनी जा सकती है। लेकिन लातीनी अमरीका में नेताओं और शासकों ने जनता को साथ लेकर इन सिद्धांतों को जमीन पर उतारने और नए प्रयोग करने की इच्छाशक्ति दिखाई है, जबकि भारत के समाजवादी सत्ता में आने पर नाकारा और नालायक साबित हुए हैं।

लातीनी अमरीका ने कम से कम इतना तो तय कर दिया है कि इक्कीसवीं सदी अपना इतिहास अलग लिखेगी। इसमें बीसवीं सदी के अनुभवों के सबक होंगे, लेकिन इक्कीसवीं सदी की नई इबारतें भी होंगी।

-सुनील

फर्जी मुठभेड़ों का कलंक

सुप्रीम कोर्ट के हस्तक्षेप से क्या इन पर विराम लगेगा

हाल ही में उत्तरप्रदेश में एक डीएसपी और अन्य की फर्जी मुठभेड़ में हत्या के मामले में 30 साल बाद सजा सुनाए जाने का फैसला हुआ। इतनी लंबी अवधि के बाद भी इसमें शायद फैसला हो गया क्योंकि मामला एक डीएसपी का था। फर्जी मुठभेड़ें भारतीय लोकतंत्र पर एक कलंक की तरह हैं। कश्मीर और उत्तर पूर्व के राज्यों में तो यह आम बात है। मणिपुर के मामले में सुप्रीम कोर्ट ने एक जांच करवाई है।

मणिपुर में सुरक्षा बलों की तरफ से की गई छह मुठभेड़ों की जांच के लिए सुप्रीम कोर्ट की तरफ से बनाई गई समिति ने हाल में अपनी रिपोर्ट में कहा कि ये सभी मुठभेड़ें फर्जी थीं। सुप्रीम कोर्ट के पूर्व न्यायाधीश संतोष हेगड़े, पूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त जेएम लिंगदोह और पूर्व कर्नाटक पुलिस प्रमुख एके सिंह की समिति ने सुरक्षा बलों के दावों का खंडन करते हुए सुप्रीम कोर्ट को बताया कि इन मुठभेड़ों के शिकार हुए लोगों की कोई आपराधिक पृष्ठभूमि नहीं थी। सुरक्षा बलों द्वारा मारे गए लोगों में बारह साल का एक बच्चा भी शामिल था।

सुप्रीम कोर्ट ने एक जनहित याचिका पर सुनवाई करते हुए पिछले 4 जनवरी को मणिपुर में हुई इन मुठभेड़ों की जांच के लिए समिति का गठन किया था। याचिका मुठभेड़ों के शिकार लोगों के परिवारों के संघ की तरफ से दाखिल की गई थी। संघ इसी तरह के 1528 मामलों की जांच की मांग कर रहा है। निश्चित तौर पर यह पहली दफा है जब कई फर्जी मुठभेड़ों के मामले में सुरक्षा बलों की संदिग्ध भूमिका के बारे में ठोस प्रमाण उपलब्ध हो सके हैं। इस जांच रिपोर्ट के बाद फर्जी मुठभेड़ों के अन्य मामलों की भी जांच का रास्ता खुल सकता है। इस घटना की पृष्ठभूमि और जांच रिपोर्ट में सामने आए तथ्यों को ध्यान में रखते हुए मणिपुर और देश के अन्य विवादित क्षेत्रों में सुरक्षा बलों को असीमित अधिकार देने वाले सशस्त्र बल विशेष अधिकार अधिनियम जैसे कानूनों की प्रासंगिकता पर एक बार फिर से सवाल खड़े हो जाते हैं, जिनका इस्तेमाल सुरक्षा बल बेहद मनमानी और गैर-

जिम्मेदारी से करते हैं।

सुप्रीम कोर्ट ने जांच समिति की रिपोर्ट पर टिप्पणी करते हुए खुद स्वीकार किया है कि रिपोर्ट से यह साफ होता है कि इसके पहले नगा पीपुल्स मूवमेंट केस में मुठभेड़ को लेकर सुप्रीम कोर्ट की तरफ से जारी किए गए दिशा निर्देशों का पालन नहीं किया गया। ऐसे में यह सवाल ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है कि मणिपुर और देश के कई विवादित क्षेत्रों में सुरक्षा बलों को ऐसी फर्जी कार्रवाइयों के प्रति जवाबदेह कैसे बनाया जाए? सुरक्षा बलों की इस संदेहास्पद भूमिका पर ज्यादा बड़ी जवाबदेही केंद्र सरकार की है और इस बात को भी जांच समिति की रिपोर्ट पर टिप्पणी कर रही सुप्रीम कोर्ट की पीठ ने रेखांकित किया है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि कालांतर में मणिपुर और देश के कई अन्य हिस्सों में ऐसे मामलों की बढ़ती संख्या के चलते ही स्थानीय निवासियों का भारतीय राज्य के प्रति विश्वास कम हुआ है।

इसलिए यही वह मौका है जब केंद्र सरकार और राज्य सरकारों को सुरक्षा बलों को जवाबदेह बनाने के लिए पहल करनी चाहिए। सुप्रीम कोर्ट द्वारा गठित समिति की जांच रिपोर्ट और सुप्रीम कोर्ट द्वारा सुरक्षा बलों की भूमिका पर आलोचनात्मक रुख अख्तियार करने का कोई भी सार्थक नतीजा तभी निकल सकता है जब केंद्र सरकार और राज्य सरकारें सशस्त्र बल विशेष अधिकार कानून और उसके जैसे अन्य कानूनों के इस्तेमाल को लेकर जारी किए गए दिशा-निर्देशों के अमल को सुनिश्चित करें। जब तक ऐसा नहीं हो जाता, स्थितियों में सुधार की उम्मीद करना बेमानी है। फिलहाल, सुप्रीम कोर्ट ने कहा है कि समिति की रिपोर्ट के आधार पर वह जरूरी दिशा-निर्देश जारी करेगा। उम्मीद की जा सकती है कि आने वाले वक्त में ये दिशा-निर्देश सुरक्षा बलों को जवाबदेह बनाने के लिहाज से निर्णायक साबित होंगे। सुप्रीम कोर्ट ने भी इन दिशा-निर्देशों को जारी करने को अपने लिए एक बड़ी चुनौती के रूप में स्वीकार किया है, यह बात उम्मीद बंधाती है।

व्यवस्था निर्मित जल संकट

जल संकट की बुनियाद में गलत नीतियां

महाराष्ट्र के उपमुख्यमंत्री अजीत पवार की अशोभनीय टिप्पणी ने देश के पानी संकट का विद्रूप चेहरा सामने लाया है। एक किसान के अनशन को लेकर की गई यह टिप्पणी बताती है कि सत्तासीन लोग इस संकट से कितने निर्लस और संवेदनशून्य हैं। इस टिप्पणी से सत्रहवीं सदी के फ्रांस की महारानी की याद आती है जिसने महल की खिड़की से भूखी जनता को प्रदर्शन करते देखकर कहा था कि रोटी नहीं है तो ये लोग केक क्यों नहीं खा लेते। कई मायनों में सरकार की नीतियां इस संकट को पैदा करने की दोषी रही हैं।

हमारे देश में जल-संकट कोई प्रकृति प्रदत्त आकस्मिक संकट नहीं है। इसका प्रमुख कारण प्राकृतिक-संसाधनों का अंधाधुंध दुरुपयोग है। वनों, नदियों, तालाबों और भूमिगत जलस्रोतों का मशीनीकृत दोहन प्रकृति के विरुद्ध छेड़े गए युद्ध की तरह है। प्रकृति के साथ सामंजस्य के भारतीय संस्कारों की जगह प्रकृति पर विजय की आधुनिक पश्चिमी नीति में जल संकट के बीज निहित हैं। पश्चिम की लाभ केन्द्रित औपनिवेशिक पॉलिसी को स्वीकारना ही अपने आप में एक बड़ा संकट है।

आज पूरे देश के सामने जल-संकट अपने अलग-अलग रूपों में खड़ा है। पंजाब में भूमिगत जल में यूरिनियम के अंश मिल रहे हैं। इसी कारण कैंसर रोग ने किसानों का जीवन दूभर कर दिया है। पंजाब में 'कैंसर एक्सप्रेस' नामक रेलगाड़ी चलती है।

महाराष्ट्र का मराठवाड़ा क्षेत्र भी भयंकर सूखे की चपेट में है। यह कहा जाता है कि सूखा मराठवाड़ा के लोगों की नियति में ही है। लेकिन इतिहास में अभी हाल तक मराठवाड़ा खुशहाली व समृद्धि से भरपूर और शक्ति का केंद्र रहा है। मराठा राजवंशों के प्रमुख राज्य मराठवाड़ा की समृद्ध प्राकृतिक संपदा की ही देन थे।

भारत में जलसंकट पैदा करने में विश्व-बैंक की प्रमुख भूमिका भी है। भारत नदियों और भरपूर मानसून की वर्षा वाला भूक्षेत्र है। स्वतंत्रता के बाद से विश्व बैंक

ने 1950 से 1980 के दशकों में नदियों पर बांध बनाने के लिए ऋण-सहायता के माध्यम से भारत में जलसंकट की स्थिति पैदा की है। विश्व बैंक 1990 के दशक से अब तक जलसंकट का इस्तेमाल भारत के विभिन्न राज्यों और सार्वजनिक निकायों को जल के निजीकरण की नीतियां स्वीकार करने के लिए बाध्य करने के लिए कर रहा है।

महाराष्ट्र का ही उदाहरण लें तो पिछले दस सालों में बड़ी सिंचाई परियोजनाओं पर 70,000 करोड़ खर्च करने पर भी सिंचित क्षेत्र में केवल 0.1 फीसदी बढ़ोतरी हुई। (देखें सामयिक वार्ता के पिछले अंक में श्रीपाद धर्माधिकारी का लेख) विडंबना यह भी देखिए कि घोर सूखे के इस वर्ष में महाराष्ट्र से अंगूर का निर्यात दुगना हो गया है।

हमारे देश में सरकारों द्वारा विश्व बैंक की शर्तों को विश्व बैंक की सहायता कहा जाता है। विश्व बैंक अमीर शहरी क्षेत्रों और उद्योगों को पानी सुविधा उपलब्ध कराने में प्राथमिकता देता है। इससे ग्रामीण और गरीब क्षेत्रों का पानी स्थानांतरित हो रहा है। जल का व्यवसायीकरण होने से जल की कीमत का भुगतान करने में समर्थ क्षेत्रों की पानी की मांग प्राथमिकता से पूरी की जा रही है। इससे आम लोगों के मौलिक अधिकारों का हनन इसलिए हो रहा है क्योंकि उनके पास भुगतान की क्षमता नहीं है। विश्व बैंक की नीतियों के फलस्वरूप जल जनतंत्र वाले देश में जल तानाशाही स्थापित की जा रही है।

हमारे देश में जल संकट के लिए अमूमन प्राकृतिक शक्तियों की ओर आम जन का ध्यान सरलता से केंद्रित कर दिया जाता है। यह समय की जरूरत है कि आम लोगों को समझाया जाए कि जल संकट और वैश्विक तापमान क्यों बढ़ रहा है। आने वाले दिन और भी कठिन होंगे। मानसून और जलवायु में होने वाले परिवर्तनों से आम लोगों को अवगत कराना जरूरी है। इस शताब्दी का भारत का सबसे प्रमुख एजेंडा जल जनतंत्र का ही होना चाहिए।

चावेज का समाजवाद

शिउली वनजा

वेनेजुएला के राष्ट्रपति चावेज ने लोकतांत्रिक समाजवाद का एक नया मॉडल बनाया, अमरीकी साम्राज्यवाद को चुनौती दी और वैश्वीकरण की अजेयता तथा विकल्पहीनता का भ्रम तोड़ा। समता और न्याय पर आधारित नई दुनिया बनाने की इच्छा रखने वाले लोग उनके प्रयोगों से हम बहुत कुछ सीख सकते हैं।

शिउली वनजा
जवाहरलाल नेहरू
विश्वविद्यालय में
अर्थशास्त्र की शोधछात्रा
और विद्यार्थी युवजन
सभा की राष्ट्रीय महामंत्री
हैं।

पता: 33 गोदावरी
छात्रावास, जवाहरलाल
नेहरू विश्वविद्यालय, नई
दिल्ली - 110067

shiulivanaja@
gmail.com

विगत 8 मार्च 2013 को लातीनी अमरीकी देश वेनेजुएला के लोगों ने अपने प्यारे नेता और राष्ट्रपति उगो चावेज को भावभीनी विदाई दी। अंतिम यात्रा में लाखों की संख्या में लोग शरीक हुए। 33 देशों के राष्ट्राध्यक्ष सहित 55 देशों की सरकारों के प्रतिनिधिमंडल इस मौके पर पहुंचे। चावेज के जाने से न केवल वेनेजुएला, बल्कि पूरी दुनिया ने पिछले कुछ समय का एक जबरदस्त नेता, शासक और क्रांतिकारी खो दिया। उन्होंने अमरीकी साम्राज्यवाद को खुलकर चुनौती दी, वैश्वीकरण और नवउदारवाद के अश्वमेघ घोड़े की विजय यात्रा को रोका, लीक से हटकर समाजवाद के नए प्रयोग किए और 'इक्कीसवीं सदी के समाजवाद' के पुरोधा बने। सबसे खास बात यह है कि ये सारे काम उन्होंने लोकतांत्रिक तरीकों से किए। 1998 में वे पहली बार वेनेजुएला के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। उसके बाद तीन बार वे राष्ट्रपति चुनाव जीते। एक को छोड़कर कई जनमत-संग्रहों और अन्य चुनावों में भी उन्हें जीत हासिल हुई।

चावेज का उदय

उगो चावेज का जन्म एक साधारण स्कूल शिक्षक के घर 1954 में हुआ था। वे गरीबी तथा अभावों में पले-बढ़े। कम उम्र में ही वे फौज में भरती हो गए। खुद चावेज के मुताबिक उस समय नीचे के तबके के लोगों के लिए तंगहाली से निकलने का यही एक जरिया था (जैसा भारत में भी है)। चावेज वेनेजुएला और लातीनी अमरीका में प्रचलित विविध वामपंथी विचारों और भूमिगत आंदोलनों के संपर्क में

आए और इनका गहरा असर उन पर पड़ा। 23 बरस की उम्र में ही उन्होंने समविचारी दोस्तों के साथ फौज के अंदर गोपनीय रूप से 'वेनेजुएला पीपुल्स लिबरेशन आर्मी' की स्थापना की। 1989 में वेनेजुएला की राजधानी काराकास में पेट्रोल-गैस कीमतें बढ़ने के खिलाफ जबरदस्त विद्रोह हुआ, जिसका क्रूरतापूर्वक दमन हुआ और 3000 लोग मारे गए। उस समय चावेज बीमार थे और अस्पताल में थे, लेकिन वे इससे काफी विचलित हो गए। तीन साल बाद ही, 1992 में चावेज के नेतृत्व में तत्कालीन तानाशाह सरकार के खिलाफ फौजी विद्रोह की कोशिश हुई, जो असफल रही। चावेज को पकड़कर जेल में डाल दिया गया। लेकिन इस घटना से चावेज को लोकप्रियता और राष्ट्रीय पहचान मिली।

1994 में वेनेजुएला में लोकतांत्रिक सरकार कायम होने पर चावेज को माफी देकर छोड़ दिया गया। अब चावेज ने हिंसा का रास्ता छोड़कर लोकतांत्रिक रास्ता अपनाने का फैसला किया। उन्होंने देश भर में घूम-घूम कर दौरे किए और कई वामपंथी व समाजवादी समूहों के साथ मिलकर 'फिफथ रिपब्लिक पार्टी' की स्थापना की। 1998 में चावेज बहुमत से जीतकर राष्ट्रपति बने। सत्ता में आते ही चावेज ने नया संविधान बनाने की प्रक्रिया शुरू कर दी। संविधान सभा का चुनाव हुआ। शीघ्र ही संविधान बना, जिसे दक्षिण अमरीकी स्वतंत्रता सेनानी साईमन बोलीवार के नाम पर बोलीवारवादी संविधान कहा गया। नए संविधान के तहत 2000 में चुनाव हुए और चावेज फिर राष्ट्रपति बने। चावेज के विरोधियों ने 2002 में चावेज के खिलाफ तख्तापलट

की कोशिश की। चावेज को पकड़कर एक द्वीप में कैद कर दिया गया। लेकिन लोगों ने राष्ट्रपति भवन को और सरकारी व फौजी मुख्यालयों को घेर लिया। फौज का भी एक हिस्सा चावेज के समर्थन में आ गया। नतीजतन उन्हें चावेज को वापस सत्ता सौंपनी पड़ी।

चावेज विरोधियों ने इसके बाद चावेज सरकार के खिलाफ बड़ी हड़ताल की। तेल उत्पादन और अर्थव्यवस्था को ठप कर दिया। इन ताकतों को संयुक्त राज्य अमरीका का सक्रिय सहयोग मिला। इससे भी काम नहीं बना, तो नए संविधान के प्रावधान का उपयोग करते हुए राष्ट्रपति को हटाने के लिए जनमत-संग्रह कराया गया। इसमें भी चावेज को जीत हासिल हुई। इसके बाद 2006 और 2012 में चावेज फिर से राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। आखिरी जीत के बाद जनवरी 2013 में वे राष्ट्रपति पद की शपथ लेते, लेकिन कैंसरग्रस्त होने से नहीं ले सके और 8 मार्च को निधन हो गया। चावेज लोकतांत्रिक तरीके से इतनी बार जीतने वाले और इतने लंबे समय तक सत्ता में रहने वाले दुनिया के एकमात्र समाजवादी शासक हैं।



चावेज का समाजवाद नए और अलग ढंग का था, जिसे वे बोलीवारवाद और इक्कीसवीं सदी का समाजवाद कहते थे। चावेज कभी भी कट्टर मार्क्सवादी नहीं रहा, पर व्यवस्था परिवर्तन की चाह और देश के गरीबों की हालत में सुधार उनके विचारों के केन्द्र में रहे। अपने कार्यकाल में उन्होंने कई महत्वपूर्ण आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक बदलाव किए और एक नई व्यवस्था की बुनियाद रखी।

देश के संसाधन जनता की सेवा में

चावेज के पहले वेनेजुएला की अर्थव्यवस्था के प्रमुख क्षेत्र बहुराष्ट्रीय कंपनियों और देश के अमीरों के कब्जे में थे। आबादी का बड़ा हिस्सा असंगठित क्षेत्र में था जो औपचारिक शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, प्रशासन के बाहर था और बहुत गरीबी में जी रहा था। वेनेजुएला की इस वास्तविकता को देखते हुए चावेज ने संगठित क्षेत्र के मजदूरों द्वारा समाजवादी क्रांति की अगुवाई की धारणा को खारिज कर दिया। उन्होंने असंगठित क्षेत्र के गरीब, अनपढ़ और हाशिये पर जीने वाले तबके को व्यवस्था

परिवर्तन की 'बोलीवारवादी क्रांति' के केन्द्र में रखा। संगठित क्षेत्र की तेल उद्योग जैसी यूनियनों ने तो चावेज का जमकर विरोध किया। बोलीवारवादी क्रांति इस मायने में भी पूरी तरह मार्क्सवादी नहीं थी कि इसने केवल आर्थिक बदलावों की जगह आर्थिक और सामाजिक दोनों तरह के बदलावों पर जोर दिया। चावेज ने निजी संपत्ति की संस्था को खतम नहीं किया, लेकिन बहुराष्ट्रीय कंपनियों पर लगाम लगाई, अमीरों पर कर बढ़ाया और देश की धन-संपत्ति-आमदनी के कुछ हद तक पुनर्बंटवारे की कोशिश की। 2006 के बाद दूरसंचार, बिजली व तेल क्षेत्र का राष्ट्रीयकरण किया। गरीब जनता की भलाई के अनेक कार्यक्रम चलाए गए।

इस मामले में वेनेजुएला की पेट्रोल-संपन्नता से

काफ़ी मदद मिली। वेनेजुएला दुनिया का सबसे बड़ा पेट्रोल भंडार वाला देश है। चावेज के पहले पेट्रोल निर्यात की कमाई बहुराष्ट्रीय कंपनियों और वेनेजुएला के थोड़े से अमीरों के पास चली जाती थी। सत्ता में आने पर चावेज ने पहला काम यह किया कि पेट्रोल की रायल्टी बढ़ाई, पेट्रोलियम उद्योग

पर सरकार का नियंत्रण बढ़ाया और इसकी आमदनी का उपयोग वेनेजुएला की जनता को मुफ्त शिक्षा, मुफ्त इलाज, सस्ता अनाज व रोजगार उपलब्ध कराने में किया।

चावेज शासन का एक महत्वपूर्ण काम बड़ी-बड़ी जागीरों को तोड़कर जमीन को भूमिहीनों, सामुदायिक परिषदों और सहकारी संस्थानों के बीच बांटने का रहा है। सरकार ने करीब 77 लाख हेक्टेयर भूमि अपने कब्जे में ली है और 11 लाख हेक्टेयर भूमि छोटे किसानों व भूमिहीनों के बीच बांटी है। इससे कृषि उत्पादन भी बढ़ा है क्योंकि बड़ी-बड़ी जागीरों में भूमि पड़ती रहती थी।

गरीब जनता की सीधी भागीदारी

सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक बदलावों को लाने में मुख्य कड़ी के रूप में चावेज ने सामुदायिक परिषदें बनाईं। इनमें शहरी क्षेत्र में 150 और ग्रामीण क्षेत्र में 30 या उससे ज्यादा परिवार होते हैं। इन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, स्थानीय निर्माण कार्य जैसी जिम्मेदारियां दी गई हैं और इन कामों के लिए केन्द्र सरकार से सीधे पैसा मिलता है। एक

तरह से इनके जरिए चावेज ने नौकरशाही-अफसरशाही की बाधाओं को एक तरफ करने की कोशिश की है। चावेज के ठोस समर्थन का जनाधार भी इनके जरिए बना।

चावेज के पहले वेनेजुएला की काफी बड़ी आबादी शिक्षा व्यवस्था से बाहर थी। इनकी शिक्षा के लिए चावेज ने विभिन्न मिशन यानी अभियानों की शुरुआत की और इनके संचालन का काम सामुदायिक परिषदों को दिया। इन योजनाओं का संबंध औपचारिक संस्थाओं (स्कूल बोर्ड और विश्वविद्यालयों) से होता है, लेकिन वे केवल पाठ्यक्रम बनाने और डिग्री या प्रमाणपत्र देने का कार्य करती हैं, बाकी काम सामुदायिक परिषदें करती हैं।

इस तरह की व्यवस्था और मिशन की उपलब्धियां जबरदस्त रहीं। वेनेजुएला में अब आंगनवाड़ी से लेकर विश्वविद्यालय तक मुफ्त शिक्षा दी जा रही है। निरक्षरता खतम हो गई है और वेनेजुएला के अशिक्षा मुक्त राष्ट्र बन जाने की पुष्टि संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी की है। इसी तरह लोगों को मुफ्त और अच्छी स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध कराई गईं। डॉक्टरों की कमी पूरी करने के लिए क्यूबा से डॉक्टरों को बुलाया गया। इसके लिए क्यूबा और वेनेजुएला में लेन देन का समझौता हुआ। वेनेजुएला सस्ता पेट्रोल और अन्य चीजें क्यूबा को देता है और बदले में क्यूबा के डॉक्टर अपनी सेवाएं देते हैं।

गरीब और पिछड़ी बस्तियों में कम दामों पर अनाज और अन्य सामान उपलब्ध कराने के लिए दुकानों की श्रृंखला खोली गई। नए शिक्षित नौजवानों को इन दुकानों, निर्माण कार्यों और अन्य कार्यक्रमों में रोजगार मिला। बड़ी संख्या में सहकारी संस्थाओं को बढ़ावा दिया गया। कारखानों को मजदूरों द्वारा चलाने के भी प्रयोग हुए।

इन सब प्रयासों के नतीजे भी जोरदार रहे। चावेज के शासनकाल में 2000 के बाद गरीबी की दर 70 फीसदी से घटकर 21 फीसदी रह गई। अति गरीबों का प्रतिशत 40 से घटकर 7 पर आ गया। जहां 1980 के दशक में वेनेजुएला जरूरत का 90 फीसदी अनाज आयात करता था, अब केवल 30 फीसदी करता है, जबकि पिछले दस-बारह सालों में प्रति व्यक्ति अनाज खपत दुगुनी हुई है। इन सब कामों में पेट्रोल की कमाई की भूमिका तो रही है, लेकिन करों से मिलने वाले राजस्व में भी बढ़ोतरी हुई है।

बदलाव बंदूक से नहीं, वोट से

महत्वपूर्ण बात यह है कि वेनेजुएला में ये बदलाव और उपलब्धियां किसी हिंसक क्रांति के बजाए लोकतांत्रिक और संवैधानिक तरीकों से हासिल किए गए। चावेज पर उनके विरोधी तानाशाही का आरोप लगाते रहे हैं। लेकिन चावेज की लोकतांत्रिक निष्ठाएं जबरदस्त रही हैं। नए संविधान में चुनाव के अलावा जनमत संग्रह का प्रावधान भी है। चुने हुए प्रतिनिधियों, यहां तक कि राष्ट्रपति को भी, कार्यकाल के पूरा होने के पहले ही वोट द्वारा हटाने का प्रावधान है। राष्ट्र प्रमुख को हटाने का यह अधिकार आज दुनिया के किसी अन्य देश में नहीं है। मजे की बात है कि चावेज द्वारा लाए गए इस प्रावधान का इस्तेमाल खुद चावेज के खिलाफ उसके विरोधियों ने 2004 में किया। चावेज ने इस चुनौती को स्वीकार किया और इस वोट में भी वे जीते। कुल मिलाकर 15 बार विभिन्न चुनावों या जनमत-संग्रहों में चावेज और उनकी पार्टी ने भाग लिया और एक को छोड़कर हर बार वे जीते। इससे उनके जबरदस्त जनसमर्थन और जनकल्याण के कार्यक्रमों व नीतियों की सफलता का पता चलता है। वेनेजुएला के पिछले राष्ट्रपति चुनाव में संयुक्त राज्य अमरीका के पूर्व राष्ट्रपति जिमी कार्टर पर्यवेक्षक रहे हैं और उनका कहना था कि वेनेजुएला की चुनाव व्यवस्था दुनिया में सर्वश्रेष्ठ है।

लोकतंत्र के इस प्रयोग की एक खासियत विकेंद्रीकरण है, जिसे 'प्रत्यक्ष लोकतंत्र' का प्रयोग भी कहा जा सकता है। ऊपर जिन सामुदायिक परिषदों का जिक्र किया गया है, उनकी तादाद करीब तीस हजार है। वे निम्न तबके के साधारण लोगों की सरकारी अभियानों व कार्यक्रमों में सीधी भागीदारी और लोगों के राजनीतिकरण का स्रोत रही हैं।

अमरीकी साम्राज्यवाद को चुनौती

चावेज के साथ पूरे लातीनी अमरीका में एक नए युग की शुरुआत होती है। चावेज के बाद वहां के कई देशों में समाजवादी रुझानों वाली सरकारें चुनकर आईं। कम से कम बोलिविया और एक्वाडोर के बारे में कहा जा सकता है कि वहां के परिवर्तन चावेज से प्रभावित थे। ब्राजील, अर्जन्तीना, चिली, पेरू, उरूग्वे, निकारागुआ, हैती आदि कई देशों में तानाशाही या जन-विरोधी व अमरीकापरस्त सरकारों की जगह लोकप्रिय सरकारें आईं। वेनेजुएला और इन दूसरी सरकारों में

कई फर्क हैं। चावेज जितने अमरीका-विरोधी थे, उतना विरोध इन्होंने नहीं किया। लेकिन फिर भी इन सबको एक जगह लाकर लातीनी अमरीका को संयुक्त राज्य अमरीका के वर्चस्व से मुक्त करने में चावेज को काफी हद तक सफलता मिली।

इसके पहले 'अमरीकी राज्यों के संगठन' में संयुक्त राज्य अमरीका की ही चलती थी। इसके जवाब में चावेज ने सबसे पहले 'अमरीका का बोलीवारवादी गठबंधन' (अल्बा) बनाया जिसमें वेनेजुएला, क्यूबा, बोलीविया, एक्वादोर, निकारगुआ, डोमीनिका, होंडुरास आदि शामिल हुए। अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक के चंगुल से निकलने के लिए 'दक्षिण का बैंक' (बैंक ऑफ साउथ) की स्थापना की और डॉलर की जगह 'सुक्रे' नामक अंतरराष्ट्रीय लेन देन की नई मुद्रा बनाई। निजी टीवी चैनलों के दुष्प्रचार का मुकाबला करने के लिए लातीनी अमरीका के लिए 'टेलीसूर' नामक चैनल शुरू किया। अपनी मौत के एक साल पहले चावेज को 'लातीनी अमरीकी व कैरीबियन देशों का समुदाय' (सेलेक) बनाने में सफलता मिली। यहां तक कि कोलंबिया जैसा देश भी इसमें शामिल हुआ, जो वैसे संयुक्त राज्य अमरीका का पिट्टू है और बीच में जिसका वेनेजुएला से काफी मनमुटाव हो गया था। चावेज चाहते थे कि लातीनी अमरीकी देश संयुक्त राज्य अमरीका पर निर्भरता और उसके प्रभाव से मुक्त हों, उनमें आपसी समन्वय और सहयोग बढ़े और वे नवउदारवादी नीतियों को छोड़ें, तभी वे अपने देश के

अंदर भी समाजवादी व्यवस्था को चला पाएंगे।

चावेज की कमियां

किसी भी नई व्यवस्था की तरह चावेज द्वारा स्थापित व्यवस्था भी संपूर्ण और आदर्श नहीं थी। उसमें कई कमियां भी हैं। सबसे बड़ी कमी यह है कि यह बहुत ज्यादा व्यक्ति केंद्रित है। यह बहुत कुछ चावेज के व्यक्तिगत करिश्मे पर आधारित रही है। चावेज के जाने के बाद यह कितनी स्थाई हो पाएगी और इसमें कितनी ऊर्जा रहेगी, यह देखना अभी शेष है। दूसरी बात यह है कि यह पेट्रोल की कमाई पर बहुत ज्यादा निर्भर है, इसलिए इसे आसानी से दूसरी जगह दुहराया नहीं जा सकता। तीसरी बात यह है कि वेनेजुएला में भ्रष्टाचार और अपराध अभी भी एक बड़ी समस्या बनी हुई है।

इन सब के बावजूद इसमें कोई दो राय नहीं कि चावेज ने अपने 14 साल के कार्यकाल में एक मिसाल कायम की है, जो नवउदारवाद के खिलाफ लड़ने वालों और समतामूलक समाज बनाने की इच्छा रखने वालों के लिए काफी मददगार है। इससे भरोसा मिला है कि दुनिया विकल्पहीन नहीं है और समाजवाद की बात पूरी तरह अप्रासंगिक नहीं हुई है। भारत की परिस्थितियां भी वेनेजुएला से मिलती जुलती हैं। यहां भी असंगठित क्षेत्र काफी बड़ा, वंचित और दबा हुआ है। उम्मीद की जा सकती है कि भारत में भी नवउदारवाद की आंधी को रोका जा सकता है और व्यवस्था परिवर्तन हो सकता है। पर क्या हमें उसके लिए किसी चावेज के आने तक इंतजार करना पड़ेगा?

हिम्मत मत हारना

बात चावेज के शासनकाल के शुरुआती सालों की है। 2002 में उसके तख्तापलट की कोशिश नाकाम रहने पर, दिसंबर में विरोधियों ने पेट्रोल उद्योग की भ्रष्ट यूनिशन के साथ मिलकर व्यापक हड़ताल कर दी। यह उद्योग वेनेजुएला की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार है। इससे बड़ा संकट पैदा हो गया। निर्यात प्रभावित होने के साथ देश में भी तेल व गैस की भारी किल्लत हो गई। चावेज की सरकार के लिए यह परीक्षा की कठिन घड़ी थी। मशहूर वामपंथी लेखक और पत्रकार तारिक अली के यह पूछने पर कि क्या वे कभी निराश हुए थे, चावेज ने यह किस्सा सुनाया-

“दो चीजों ने मेरे मनोबल को बनाए रखा। एक तो वह समर्थन था जो हमें देश भर में मिला। मैं दफ्तर में बैठे-बैठे तंग आ गया। इसलिए एक सुरक्षा गार्ड और दो साथियों के साथ मैं लोगों से बात करने और खुली हवा में सांस लेने के लिए निकल पड़ा। लोगों के रिस्पॉन्स ने मुझे हिला दिया। एक महिला मेरे पास आई और बोली, 'चावेज मेरे साथ आओ, मैं तुम्हें कुछ दिखाना चाहती हूँ'। मैं उसके साथ उसके छोटे से मकान में गया। 'देखो, मैं चूल्हा जलाने के लिए क्या इस्तेमाल कर रही हूँ... पलंग का पटिया। कल मैं इसके पाये जलाऊंगी, परसों टेबल और फिर कुर्सियां व दरवाजे जलाऊंगी। हम किसी तरह काम चला लेंगे, लेकिन तुम हिम्मत मत हारना, झुकना मत!'”

जन आंदोलनों का ज्वार

अश नारायण राय

लातीनी अमरीका के परिवर्तनों के पीछे वहां के जनांदोलनों से निकली जबरदस्त ऊर्जा है। भारत के आदिवासियों की तरह वहां के मूल निवासी भी प्राकृतिक संसाधनों की लूट और बेदखली के खिलाफ प्रतिरोध कर रहे हैं जिससे लोकप्रिय वामपंथी सरकारों के अंतर्विरोध भी सामने आ रहे हैं। मामला वामपंथ का नहीं, बढ़ते और गहराते लोकतंत्र का है।

अश नारायण राय लातीनी अमरीका के जानकार हैं और सामाजिक विज्ञान संस्थान दिल्ली के निदेशक हैं। इस लेख का अंगरेजी से अनुवाद राजेंद्र चौधरी ने किया है।

पता: निदेशक इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेज, 8, नेल्सन मंडेला रोड, वसंतकुंज, नई दिल्ली-110070
फोन: 09810528022
ashnarainroy@gmail.com

लातीनी अमरीका निरंतर परिवर्तन का भूभाग है। यह विरोधाभासी प्रतीत हो सकता है परंतु यहां के मूल निवासियों में यह भावना घर कर गई है कि राज्यसत्ता चाहे कैसी भी हो, (खुले तौर पर बाजारवादी, या कथित रूप से वैकल्पिक या प्रगतिशील) सभी ऐसा शोषणकारी बाजारवादी रास्ता अपना रही हैं जिससे मूल निवासियों के बुनियादी अधिकारों का हनन होता है, प्राकृतिक संसाधनों की लूट होती है और धरती मां खंडित होती है। पूरे क्षेत्र में हाशिये पर पड़े लोग उठ खड़े हुए हैं, उन्हें गरीब बनाकर रखने वाली व्यवस्था को चुनौती दे रहे हैं और नए रास्ते तलाश रहे हैं। हर देश में जनता ऐसे नेताओं को चुन रही है जो अमरीकी नेतृत्व वाली 'नवउदारवादी' नीतियों का पुरजोर विरोध करते हैं। ये नीतियां सामाजिक क्षेत्र में सरकारी खर्च में कटौती, शिक्षा और पानी जैसी सार्वजनिक सेवाओं के निजीकरण और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए खुले द्वार को बढ़ावा देती रही हैं।

परंतु जनतंत्रिकरण की दिशा में अधिकांश महत्वपूर्ण पहलकदमियां सरकारी नीतियों का परिणाम न होकर सामाजिक आंदोलनों की ऊर्जा का परिणाम हैं। भूमिहीनों के आंदोलन ने जनतंत्र की सामाजिक नींव को मजबूत किया है। आजकल बड़े पैमाने पर होने वाले खनन को हड़तालों और आंदोलनों का सामना करना पड़ रहा है। स्थानीय लोग भूमि अधिग्रहण और जंगलों व जलमार्गों की तबाही का डटकर विरोध कर रहे हैं। पानी के निजीकरण के खिलाफ आंदोलनों ने भी काफी प्रभाव छोड़ा है। संक्षेप में दक्षिणी अमरीकी महाद्वीप से यह स्पष्ट संदेश आ रहा है कि

दूसरी दुनिया बनाना संभव है। परंतु इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि नेताओं के कई सार्वजनिक तेवरों में दिखावा ज्यादा है, अमल कम है। सभी देशों में नवउदारवादी मॉडल को नकारा नहीं गया है। दक्षिण अमरीका महाद्वीप को वामपंथी और गैर वामपंथी चश्मे से देखना ठीक नहीं है।

पिछले वर्षों में कई लातीनी अमरीका देशों के नेताओं ने राष्ट्रियता का एक नया विमर्श खड़ा करने का प्रयास किया है जिसने संस्कृति, इतिहास, जाति, लिंग, नागरिकता और पहचान की लंबे समय से चली आ रही मान्यताओं और छवियों को चुनौती दी है। इन नए राजनीतिक आंदोलनों ने अतीत की एक वैकल्पिक व्याख्या सामने रखी है जिसने पुरानी व्यवस्था को सही ठहराने वाली समझ पर सवालिया निशान लगाए हैं। अतीत को नए तरीके से देखने से ऐतिहासिक तौर पर हाशिये पर खड़े लोगों - मूल निवासियों, अफ्रीकी मूल के लोगों, किसानों, महिलाओं और मजदूरों को साथ लेने का मौका मिलता है। 1980 से पहले मूल निवासियों के संगठन अपने-अपने समूहों तक सीमित थे। आम तौर पर मूल निवासियों के विभिन्न समूहों के संयुक्त संगठन नहीं थे। इसके अलावा, जो मूल निवासी राजनीति में शामिल होते थे वे आम तौर पर पारंपरिक वामपंथ के झंडे के तहत होते थे। आज, ऐसा जरूरी नहीं है।

लोकतंत्रिकरण का वर्तमान युग नए अवसर प्रदान कर रहा है। लोकतंत्रिकरण ने नए रास्ते खोल दिए हैं। कई देशों में पारंपरिक वामपंथ के क्षय से उत्पन्न शून्य को भरने के लिए मूल निवासियों के संगठन आगे आए हैं।

वैश्वीकरण के चलते पानी, तेल, गैस, वन, खनिज, जैव विविधता जैसे महत्वपूर्ण संसाधनों से भरपूर जमीन पर रहने वाले मूल निवासियों के लिए मुसीबतें बढ़ गई हैं। विदेशी पूंजी निवेश और मुनाफे में वृद्धि प्राकृतिक संसाधनों के दोहन पर निर्भर करती है, और ये प्राकृतिक संसाधन मुख्य रूप से मूल निवासियों की जमीन पर पाए जाते हैं।

पूरे उत्तरी और दक्षिणी अमरीका में मूल निवासी अपना आर्थिक और सामाजिक आधार खो रहे हैं। अपनी भूमि, पानी और अन्य प्राकृतिक संसाधनों पर उनका पहले से ही नाजुक नियंत्रण और कमजोर हो रहा है। बाजार से प्रेरित वैश्विक प्रक्रियाओं के चलते मूल निवासी समुदायों के पर्यावरण का नुकसान हो रहा है और गरीबी बढ़ रही है।

मूल निवासी समुदायों के अनुभव में राष्ट्र-राज्य की भूमिका योजनाबद्ध तरीके से उन्हें बाहर निकालने वाले और उनके संसाधनों पर कब्जा करने वाले की रही है।

वैश्वीकरण से हालत और खराब हो गई है। ये प्राकृतिक संसाधन मूल निवासियों या अफ्रीकी मूल के लोगों या किसानों की भूमि पर हैं, इसकी परवाह किए बगैर सरकारें अंतरराष्ट्रीय बाजार में इनके सौदे कर रही हैं।

इस संदर्भ में, कई मूल निवासी 'वैश्वीकरण' को 'औपनिवेशीकरण' का ही दूसरा रूप मानते हैं। कोलंबिया के मूल निवासियों का राष्ट्रीय संगठन मुक्त व्यापार समझौतों को 'हमारी धरती, हमारी संस्कृति, हमारे विवेक, और हमारी प्रकृति को फिर से अपना उपनिवेश बनाने के लिए नया अभियान' मानता है।

लातीनी अमरीका के अधिकांश देशों में, विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा प्रेरित संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम का अर्थ है बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के माध्यम से अर्थव्यवस्थाओं को वापस कच्चे माल के उत्पादन पर निर्भर बना देना। कभी-कभी इसमें स्थानीय कंपनियों की भागीदारी भी रहती है और सरकारें तो मदद करने के लिए तैयार रहती ही हैं। दक्षिणी विश्व की अर्थव्यवस्थाओं को कच्चे माल के उत्पादन पर निर्भर बनाने की इस नई मुहिम का नतीजा है मूल निवासियों की भूमि और संसाधनों का आक्रामक

अधिग्रहण। इस तरह के विकास का परिणाम है प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर भूमि से लोगों का नए सिरे से विस्थापन।

पहले जब मूल निवासियों को उनकी भूमि से बेदखल किया गया तो उन्होंने उन स्थानों पर शरण ली जो प्रतिकूल परिवेश माने जाते थे। परंतु ये उच्च जैव विविधता के क्षेत्र हैं और उनका पर्यावरणीय महत्व उनकी सीमाओं से परे जाता है। अब कई जगह पर जमीन के इन टुकड़ों पर खनन के लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियों की नजर है और मूल निवासी समूहों को बड़े पैमाने पर फिर से जबरन बेदखल किया जा रहा है।

आर्थिक एकीकरण के मौजूदा दौर में राष्ट्रीय संप्रभुता भी कमजोर हो चली है। अंतरराष्ट्रीय व्यापार समझौतों और अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों की मांगों के आगे देशों की ताकत बौनी साबित होती है। राष्ट्र-राज्यों की शिथिल भूमिका के चलते राष्ट्रों के आंतरिक आर्थिक संकट और

पूरे क्षेत्र की सामाजिक और राजनीतिक अस्थिरता कई गुना बढ़ जाती है।

कई मूल निवासी 'वैश्वीकरण' को 'औपनिवेशीकरण' का ही दूसरा रूप मानते हैं। कोलंबिया के मूल निवासियों का राष्ट्रीय संगठन मुक्त व्यापार समझौतों को 'हमारी धरती, हमारी संस्कृति, हमारे विवेक, और हमारी प्रकृति को फिर से अपना उपनिवेश बनाने को नया अभियान' मानता है।

मूल निवासियों के संगठन चुनावी राजनीति में भी हाथ आजमा रहे हैं। मूल निवासी मतदाताओं की चुनावों से गैरहाजरी की ऐतिहासिक स्थिति और राजनीति के प्रति गहरे

पारंपरिक अविश्वास को दूर छोड़ते हुए आधुनिक लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में ये संगठन शामिल होने लगे हैं।

इस क्षेत्र के मूल निवासी आंदोलन, आर्थिक मुद्दों विशेष रूप से भूमि अधिकार के सवाल और सांस्कृतिक अस्तित्व के सवाल से जुड़े हुए हैं। कई आंदोलनों ने जातीय पहचान या वर्ग में से कौन सा अधिक महत्वपूर्ण है जैसी बांझ बहस को छोड़ दिया है। आज दोनों के बीच स्वाभाविक संबंधों पर जोर है।

लातीनी अमरीका में लोकतंत्र ने महत्वपूर्ण पड़ाव पार किए हैं। यह क्षेत्र अब समावेशी लोकतंत्र की ओर बढ़ रहा है। पहली बार मूल निवासी और अन्य अल्पसंख्यक समूहों को महत्वपूर्ण शक्तियां दी गई हैं। दबे हुए समूह वर्तमान ढाचों और छवियों को चुनौती देकर इनके नए स्वरूप गढ़ रहे हैं। कैथारिन वॉल्श ने इसे राज्य की पुनःस्थापना कहा है। एक्वादोर के मूल निवासी बुद्धिजीवी

लूज डे ला टोरे ने आत्म सम्मान के महत्व को रेखांकित किया है। मूल निवासियों ने खुद को अपनी नजरों से देखना शुरू कर दिया है।

लातीनी अमरीका के कई देशों, विशेष रूप में एंडीज पर्वतमाला से जुड़े देशों में, भूमि और जल के लिए, और खनन व जंगलों के बीच से सड़क निर्माण के खिलाफ, लंबे समय से संघर्ष और विरोध प्रदर्शन निरंतर जारी हैं।

पेरू

आपातकालीन स्थिति, और सेना तथा पुलिस की भारी उपस्थिति के बावजूद कजामारका के उत्तरी क्षेत्रों में किसानों की जमीनों को खनन के लिए देने की सरकारी नीति के विरोध में स्थानीय किसान लगातार विरोध प्रदर्शन और हड़ताल कर रहे हैं। यह संघर्ष मूल निवासी क्षेत्रों में किसानों की जमीनों को खनन के लिए देने की सरकार की योजनाओं के खिलाफ विरोध का प्रतीक बन गया है। कजामारका के ऊंचे अल्पाइन क्षेत्र में स्थित विशालकाय कोंगा सोने की खदानों को (जो कोलोराडो की नियूमांडट खनन कम्पनी विश्व बैंक की सहायता से शुरू करना चाहती है) रोकने के लिए महीनों लंबे अभियान में जुलाई 2012 को सरकार द्वारा प्रदर्शनकारियों पर गोलीबारी में 5 लोगों की जान चली गई। चार पर्वतीय झीलें नियूमांडट द्वारा इस क्षेत्र में विशालकाय खुली खदान बनाने से नष्ट हो जाएंगी। फरवरी 2012 में, 'पानी के लिए राष्ट्रीय यात्रा' के तहत सैकड़ों लोगों ने दस दिन तक कोंगा से राजधानी लीमा तक की यात्रा की जहां इसके समर्थन में हजारों की रैली हुई।

बोलिविया

बोलिविया में स्थिति कुछ जटिल है। यहां के राष्ट्रपति एवो मोरालेस लंबे समय से लोकप्रिय आयमारा (मूल निवासी) नेता हैं जो 2006 में इस वादे के साथ चुने गए कि वो मूल निवासी समुदायों को सशक्त बनाएंगे और प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित उद्योगों पर राज्य के नियंत्रण को बढ़ाएंगे। परंतु आज बोलिविया में वास्तविकता यह है कि विदेशी खनिज कंपनियों के भूमि और पानी पर नियंत्रण का विस्तार हो रहा है।

अप्रैल 2010 में, जब मोरालेस कोचाबांबा में जलवायु परिवर्तन पर एक अंतरराष्ट्रीय बैठक की मेजबानी कर रहे थे, कुवेशुआ के किसानों ने पोतोसी की तांबे की विशाल

सान क्रिस्तोबाल खदान पर कब्जा कर लिया, उपकरणों को तहस-नहस कर दिया और खदान से बाहर जाने वाली रेल लाइन को ठप कर दिया। वे इस बात का विरोध कर रहे थे कि जब स्थानीय खेत सूखे पड़े थे, तब इस खदान द्वारा बड़े स्तर पर पानी का मुफ्त उपयोग हो रहा था। जापान की सुमितोमो कंपनी, जो खदान की मालिक है, ने तकनीकी शोध के आधार पर यह साबित करने का प्रयास किया कि इस खदान के कारण स्थानीय कृषि के लिए पानी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। लेकिन किसान इस से संतुष्ट नहीं थे। कोचाबांबा शिखर सम्मेलन के उद्घाटन के अवसर पर मोरालेस ने किसानों के साथ संवाद शुरू कर के स्थिति को बिगड़ने से बचा लिया।

बहरहाल, मोरालेस सरकार द्वारा लाए गए नए खनन कानून के तहत कंपनियों को केवल अपने अनुबंधों को दोबारा तय करना है। कुछ कंपनियों को बोलीवियाई सरकार के साथ साझेदारी करनी होगी। लेकिन सरकार ने आश्वासन दिया है कि सान क्रिस्तोबाल खदान, जो बोलीविया की सबसे बड़ी खदान है, पूरी तरह से निजी हाथों में रहेगी। यह खदान अब भी हर दिन 50,000 घन मीटर पानी का उपयोग कर रही है।

एक्वादोर

एक्वादोर में भी कहने को तो एक वामपंथी जनपक्षी सरकार है, लेकिन उसे खदानों की अपनी विशालकाय योजनाओं पर मूल निवासियों के विरोध का सामना करना पड़ रहा है। 22 मार्च 2012 को 'जल, जीवन और गरिमा के लिए यात्रा' के तहत हजार से ज्यादा लोग दो सप्ताह की 700 किलोमीटर लंबी यात्रा के बाद देश की राजधानी कितो पहुंचे। यह यात्रा मूल निवासियों की भूमि पर बड़े पैमाने पर खनन परियोजनाओं के विरोध में थी। शहर पहुंचने पर मूल निवासियों का इंद्रधनुषी झंडा उठाए इन यात्रियों के साथ हजारों की तादाद में समर्थक भी आ जुटे। राष्ट्रीय संसद की इमारत के बाहर एक संक्षिप्त टकराव के दौरान पुलिस को पत्थर फेंक रहे युवाओं पर आंसूगैस का इस्तेमाल करना पड़ा और घुड़सवार दस्ते का प्रयोग करके प्रदर्शनकारियों को खदेड़ना पड़ा।

मेक्सिको

मेक्सिको में मूल निवासियों के विरोध प्रदर्शन में कनाडा की और अन्य विदेशी कंपनियों द्वारा नए

खनन कार्यों का विरोध प्रमुख है। उदाहरण के लिए, नवम्बर 2012 में, पुएब्ला के जाउतला में 5,000 मूल निवासियों ने चीनी कम्पनी द्वारा संचालित 'जेडीसी खनिज' की खदान को बंद करने की मांग की। उनका कहना था कि इस खदान से झरने, फसलें और मिट्टी दूषित होंगे और मानव स्वास्थ्य को नुकसान पहुंचेगा। उनका नारा 'खदान के लिए ना, जीवन के लिए हां' अब पूरे देश में गूंज रहा है।

उत्तरी मेक्सिको के सिएरा ताराहुमारा में रारामूरी मूल निवासी जंगलों की अवैध कटाई, पर्यटन विकास और अन्य अतिक्रमण के खिलाफ अपनी भूमि की रक्षा करने के लिए तेजी से सक्रिय हो रहे हैं।

रारामूरी मूल निवासियों को मेक्सिको के सुप्रीम कोर्ट में एक बड़ी जीत हासिल हुई है। इस फैसले के अनुसार मूल निवासियों को चिहुआहुआ राज्य के सिएरा ताराहुमारा क्षेत्र में पर्यटन विकास के प्रमुख संगठन कॉपर केयाओन ट्रस्ट फंड में भाग लेने का संवैधानिक अधिकार है।

लातीनी अमरीका की दो-तीन अन्य प्रमुख उपलब्धियां यहां उल्लेख करने लायक हैं।

पानी का अधिकार

बढ़ती आबादी और कृषि, वृक्षारोपण, पनबिजली, खनन और कंपनियों की पानी की बढ़ती मांग की वजह से पानी दुर्लभ होता जा रहा है। राज्य की नीतियां और कानून अक्सर पारंपरिक और स्थानीय अधिकारों का सम्मान नहीं करते। पिछले दशकों में 'पानी सुधार' के अधिकतर प्रयोग चिली के पानी निजीकरण के उदाहरण पर आधारित हैं।

लेकिन बोलिविया में पानी निजीकरण के चलते 'पानी युद्ध' हुए जिन्होंने अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ध्यान आकर्षित किया। पानी के निजीकरण के खिलाफ 2000 में, कोचाबांबा की सड़कें किसानों, मूल निवासी समूहों और शहरी गरीबों से भर गई थी। शहरी आबादी पीने के पानी के दाम में भारी वृद्धि की वजह से गुस्से में थी।

कई भयंकर टकरावों के बाद इन संगठनों को निजीकरण संबंधी नीतियों को खारिज कराने में सफलता मिली। इसके चलते 2004 में नया सिंचाई कानून बना जिसके तहत स्थानीय और परम्परागत कानून को मान्यता मिली।

मूल निवासी संप्रभुता

पानी के अधिकार के साथ जुड़ा हुआ है मूल निवासियों की संप्रभुता का मुख्य सवाल। विभिन्न मूल निवासी समूहों ने अपने समुदाय की सुरक्षा और न्याय हासिल करने का वैकल्पिक रास्ता दुनिया को दिखा दिया है। इससे जमीनी स्तर पर शासन में भागीदारी की मुहिम और आर्थिक विकास एवं पर्यावरण संरक्षण के बीच संतुलन कायम करने की मुहिम को बढ़ावा मिला है।

कोलंबस द्वारा अमरीका की तथाकथित खोज के बाद, पहली बार कुछ दक्षिण अमरीकी देशों जैसे वेनेजुएला, एक्वादोर और बोलिविया में मूल निवासी और अन्य अल्पसंख्यक समूहों को महत्वपूर्ण शक्तियां प्रदान की गई हैं। लंबे समय से कुछ नस्लों द्वारा दूसरी नस्लों को सभ्य बनाने का विचार प्रचलित था गोरी। नस्लों जैसा बनना प्रगति का पैमाना माना जाता था। ऐसी नस्लीय धारणाओं को अब सुधारा गया है। एक्वादोर और बोलिविया ने एक राष्ट्रीय से बहुराष्ट्रीय और एकसूत्री संस्कृति से अंतर - सांस्कृतिक मंच का रूप ले लिया है।

प्रकृति का अधिकार

एक्वादोर पहला ऐसा देश है जिसमें प्रकृति के अधिकारों को संविधान में शामिल किया गया है। प्रकृति को 'बने रहने का और अपने जीवन चक्र, संरचनाओं, कार्यों और प्रक्रियाओं को विकासक्रम में बनाए रखने और नवीनीकरण करने का अधिकार है।' प्रकृति को मानव के साथ बराबर का अधिकार देने का अर्थ है मनुष्य और प्रकृति के बीच एक नए रिश्ते की स्थापना। बोलिविया में भी इस तरह के कदम उठाए गए हैं। बोलिविया में अब 'पृथ्वी मां' मंत्रालय है। पचममा (धरती मां) जीवन मात्र के केंद्र में है और इसलिए इसे संरक्षित किया जाना चाहिए।

अंत में, दक्षिणी अमेरिका में वामपंथ की ओर झुकाव सर्वव्यापी नहीं है। वामपंथी और गैर-वामपंथी के नजरिये से दक्षिणी अमेरिका को समझना पर्याप्त नहीं है। पारंपरिक वामपंथ से अलग करने के लिए इसे लाल के बजाए 'गुलाबी ज्वार' कहा जा रहा है, लेकिन लातीनी अमरीका के परिवर्तन वास्तव में लोकतंत्र की परिपक्वता का नतीजा है। वहां कई वामपंथी परियोजनाएं हैं जिन को जनसमर्थन हासिल नहीं है और जनता की कई मांगें ऐसी हैं जो वामपंथी नहीं हैं।

कोचाबांबा की लड़ाई

रेहमत

बोलिविया में विश्व बैंक प्रेरित सुधारों के तहत पानी के निजीकरण के खिलाफ कोचाबांबा शहर के लोगों ने शानदार लड़ाई छेड़ी। आखिरकार कंपनी को तो जाना ही पड़ा, बोलिविया की सरकार, नीतियां और पूरी तस्वीर ही बदल गई।

रेहमत नर्मदा बचाओ आंदोलन के कार्यकर्ता रहे और बड़वानी स्थित मंथन अध्ययन केंद्र के प्रमुख शोधकर्ता हैं। पानी के निजीकरण पर कई अध्ययन किए हैं और पुस्तिकाएं लिखी हैं।

पता:
मंथन अध्ययन केंद्र,
दशहरा मैदान रोड,
बड़वानी
म.प्र. 451551
फोन :
09300833001
09300833001
@gmail.com

लातीनी अमरीका के देश बोलिविया में परिवर्तन की शुरुआत कई तरह के जनांदोलनों से हुई। इनमें बहुचर्चित है वहां के दो नगरों में पानी के निजीकरण के खिलाफ आंदोलन। ला पाज शहर में 1997 में तथा कोचाबांबा में 1998 में पानी के निजीकरण के खिलाफ संघर्ष शुरु हुआ। सात सालों तक चले इस संघर्ष में 3 जानें गईं और सैकड़ों स्त्री-पुरुष जख्मी हुए।

अस्सी के दशक में बोलिविया गंभीर आर्थिक संकट से गुजर रहा था। 1982 में मुद्रास्फीति की दर करीब 25 फीसदी हो गई थी। बोलिविया विश्व बैंक की शरण में गया। विश्व बैंक ने कर्ज के साथ निजीकरण की शर्तें भी लगाईं। रेलवे, वायुसेवा, संचार, गैस, बिजली आदि सभी क्षेत्रों को निजी कंपनियों को सौंप दिया गया। इनके बाद पानी का नंबर आया। इसके निजीकरण के लिए 'कुशल प्रबंध' और पूंजी निवेश की जरूरत की दलीलें दी गईं।

1997 में आल आल्टो और ला पाज शहरों में फ्रेंच कंपनी सुएज के स्वामित्व वाली 'एगुअस डेल इलिमनी' कंपनी को जल प्रदाय और मल निकास का ठेका दिया गया। 1999 में कोचाबांबा की पानी अपूर्ति का काम 'एगुअस डेल तुनारी' नामक कंपनियों के गठजोड़ को दिया गया, जिसकी अगुआई अमरीकी कंपनी बेकटेल कर रही थी। इसे 40 सालों के लिए असाधारण रियायतें दी गईं, ताकि वह शहर में पैसा लगाने में रूचि दिखाए। कंपनी को पूंजी निवेश पर 15 फीसदी मुनाफे की गारंटी दी गई। जिले के सभी जल स्रोतों पर पूरा अधिकार दिया गया।

कोचाबांबा शहर का जलप्रदाय तंत्र अव्यवस्था का शिकार था। पानी की काफी किल्लत थी और गरीब मोहल्लों में पानी के नल नहीं थे। इस के समाधान के लिए निजीकरण को अलादीन के चिराग की तरह पेश किया गया। लेकिन कंपनी ने पानी के दाम दुगने और फिर तिगुने कर दिए। शहर के बाहरी हिस्सों में लोगों ने अपने सामूहिक या सहकारी ट्यूबवेल और पानी आपूर्ति व्यवस्थाएं कर रखी थी, उन पर भी मीटर लगाकर पैसा वसूलना कंपनी ने शुरु कर दिया। औसतन एक मजदूर की कमाई का 25 फीसदी हिस्सा पानी के बिलों की भेंट चढ़ने लगा। कंपनी ने ऐलान कर दिया कि जो भी बिल नहीं चुकाएगा, उसका कनेक्शन काट दिया जाएगा।

बोलिविया में पानी को धरती माता का खून माना जाता है। कंपनी की इन करतूतों से गुस्सा भड़का और लोग सड़कों पर निकल आए। उन्होंने कोचाबांबा शहर बंद कर दिया, केंद्रीय बाजार पर कब्जा कर लिया और शहर में आने-जाने पर रोक लगा दी। सरकार ने सेना बुला ली। आंदोलन के बड़े नेता गिरफ्तार कर लिए गए। आंदोलन और तेज हो गया। अप्रैल 2000 में सेना ने गोली चलाई और एक विद्यार्थी मारा गया। आखिरकार सरकार को झुकना पड़ा। कंपनी का अनुबंध खतम कर दिया गया और उसे देश छोड़कर जाना पड़ा। जनांदोलन ने इसके बाद कोचाबांबा शहर के जलतंत्र को चलाने की चुनौती स्वीकार की। सममूलक बंटवारे पर आधारित लोकतांत्रिक व्यवस्था बनाई।

लेकिन कहानी यहां खतम नहीं हुई। एगुअस डेल तुनारी / बेकटेल ने विश्व बैंक

के अंतरराष्ट्रीय निवेश विवाद निपटारा केंद्र में बोलिविया सरकार पर ढाई करोड़ डालर के हरजाने का दावा ठोक दिया। इस केंद्र की कार्यवाही गोपनीय होती है। आंदोलन के प्रतिनिधियों और उनके समर्थन में दुनिया भर के नागरिक संगठनों ने मांग की कि इस मुकदमे के दस्तावेज और कार्यवाही को सार्वजनिक किया जाए तथा उन्हें भी अपना पक्ष रखने का मौका दिया जाए। लेकिन विश्व बैंक ने इस मांग को ठुकरा दिया। अनेक जगहों पर इस मांग के समर्थन में प्रदर्शन हुए। आखिरकार 19 जनवरी 2006 को बोलिविया सरकार और कंपनी के समझौते से इस विवाद का पटाक्षेप हुआ।

इस आंदोलन का राजनैतिक असर भी पड़ा और यह एक राष्ट्रवादी आंदोलन के लिए नींव का पत्थर साबित हुआ। लोगों ने तय किया कि विदेशी ताकतों की कठपुतली सरकार को हटाना और अपना राजनैतिक संगठन बनाना जरूरी है। मूल निवासियों ने भी अपनी ताकत पहचानी। 2005 के अंत में हुए चुनावों में हमेशा की तरह 30 के बजाए 54 फीसदी मतदान हुआ। पहली बार एक मूल निवासी इवो मोरालेस राष्ट्रपति बना।

मोरालेस कोचाबांबा के ही हैं।

पानी आंदोलन के कार्यकर्ता और संयुक्त राष्ट्रसंघ में बोलिविया के पूर्व राजदूत पाब्लो सोलोन का कहना है, 'हमने पहली बार ऐसा राष्ट्रपति चुना जो किसी बाहरी देश से संचालित नहीं था। हमने अपने संविधान में ऐसे बदलाव किए जिनसे प्राकृतिक संसाधनों का निजीकरण असंभव हो गया। अब सब कुछ राष्ट्रीयकृत है और जो धन बहुराष्ट्रीय कंपनियों के पास चला जाता था उसे अब हमारे स्वास्थ्य, शिक्षा और कल्याण पर खर्च किया जा रहा है।'

कोचाबांबा ने एक राह दिखाई है। इसी तरह लातीनी अमरीका के पनामा, ब्यूनस आयर्स, लीमा, रियो डी जेनेरो और त्रिनिदाद में जबरदस्त विरोध प्रदर्शनों के चलते पानी के निजीकरण के कदमों को वापस लेना पड़ा है। लेकिन भारत में निजी-सरकारी भागीदारी (पीपीपी) के नाम पर पानी के निजीकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है। केंद्र सरकार 'जवाहरलाल नेहरू शहरी नवीकरण मिशन' और मध्यप्रदेश सरकार 'मुख्यमंत्री शहरी पेयजल योजना' में पानी के निजीकरण को बढ़ावा दे रही है। क्या हम दूसरों के अनुभव से नहीं सीखेंगे?

अनूठी संगीत शालाएं

उगो चावेज के नेतृत्व में वेनेजुएला में एक शिक्षा क्रांति ने भी आकार लिया है। इसमें एक अनूठी पहल संगीत शिक्षा के बारे में है। वेनेजुएला में 300 संगीत शालाएं चल रही हैं, जिन्हें 'नुक्लेओ' कहा जाता है। स्कूल के बाद शाम को चलने वाली संगीत शालाओं में बड़ी संख्या में बच्चे गरीब बस्तियों से आते हैं, किंतु मध्यम और उच्च वर्ग के बच्चे भी उनमें आकर्षित होते हैं। कुछ तो दो बरस के बच्चे भी उनके देखे जा सकते हैं। वहां वाद्ययंत्र और भोजन मुफ्त दिए जाते हैं और दूर-दराज इलाकों में घर से आने-जाने के लिए परिवहन की व्यवस्था भी की जाती है। ये शालाएं चावेज के पहले से चली आ रही हैं, किंतु चावेज ने उन्हें काफी बढ़ावा दिया है। इन्हीं के चलते वेनेजुएला में शास्त्रीय संगीत की धूम मची हुई है। वहां का सबसे लोकप्रिय संगीत कलाकार गुस्तावो दुदामाल इसी संगीत शिक्षा कार्यक्रम की उपज है। इस कार्यक्रम को 'एल-सिस्तेमा' कहा जाता है।

संयुक्त राज्य अमरीका के लॉस एन्जिल्स टाईम्स के संगीत स्तंभकार मार्क स्वेड ने वेनेजुएला की इन संगीत शालाओं का दौरा करने के बाद 26 फरवरी 2012 को लिखा, 'संगीत के नजरिए से वेनेजुएला इस धरती पर सबसे अनूठा है।..... सरकार द्वारा संचालित संगीत शिक्षा कार्यक्रम दुनिया का सबसे व्यापक, सबसे ज्यादा सराहा गया तथा अनुकरण किया जाने वाला कार्यक्रम है।..... यह स्पष्ट है कि एल-सिस्तेमा एक अनूठा वेनेजुएलाई चमत्कार है और इसे दूसरी जगह हासिल करना मुश्किल है।'

एल-सिस्तेमा की संगीत शिक्षा आभिजात्य विरोधी भी है। इसके संस्थापक जोस आन्तोनियो एब्रेऊ का मानना है कि संगीत एक मानव अधिकार है और सबके लिए है। एल-सिस्तेमा में संगीत की प्रतिभाओं को खोजने और विकसित करने पर जोर नहीं होता, बल्कि यह माना जाता है कि हर व्यक्ति में संगीत क्षमता होती है। भाषा की तरह, यदि कम उम्र में संगीत अच्छी तरह सिखाया जाए, तो संगीत की बुनियादी काबिलियत सब हासिल कर सकते हैं। एल-सिस्तेमा को भी एक सांस्कृतिक कार्यक्रम के बजाए सामाजिक कार्यक्रम का दर्जा दिया गया है।

दुनिया की श्रेष्ठ स्वास्थ्य व्यवस्था

रामप्रताप गुप्ता

स्वास्थ्य के क्षेत्र में छोटे से गरीब देश क्यूबा की उपलब्धियां अमरीका से भी बेहतर हैं। कई बीमारियों का उन्मूलन काफी पहले हो चुका है। ये उपलब्धियां समाज केंद्रित व कम लागत वाली मुफ्त चिकित्सा व्यवस्था और बीमारियों की रोकथाम पर जोर देने से हासिल हुई हैं। भारत जैसे देशों को अमरीका की बजाय क्यूबा का अनुसरण करना चाहिए।

रामप्रताप गुप्ता लेखक एवं सेवानिवृत्त प्रोफेसर हैं।

पता:
3, राजस्व कालोनी
उजैन, म.प्र.

फोन:
07342530648

क्यूबा मेक्सिको की खाड़ी में स्थित तथा विश्व के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र संयुक्त राज्य अमरीका के पड़ोस में एक छोटा सा राष्ट्र है जो पिछले 51-52 वर्षों से अपनी साम्यवादी व्यवस्था के कारण अमरीका की आंख की किरकिरी बना हुआ है। अमरीका द्वारा क्यूबा में विद्रोह करवाने के अनेक असफल प्रयासों तथा उस पर लगाए गए तमाम व्यापारिक प्रतिबंधों के बावजूद पहले राष्ट्रपति फिदेल कास्त्रो तथा अब उनके भाई रॉल कास्त्रो के नेतृत्व में क्यूबा अपनी साम्यवादी व्यवस्था को कायम रखने में सफल रहा है। क्यूबा की कई उपलब्धियों में उसकी श्रेष्ठ स्वास्थ्य सेवाएं हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका स्वास्थ्य पर अपनी उच्चस्तरीय राष्ट्रीय आय का 6.9 प्रतिशत सार्वजनिक क्षेत्र में और 8.5 प्रतिशत निजी क्षेत्र में अर्थात् कुल मिलाकर 15.4 प्रतिशत व्यय करता है जबकि क्यूबा स्वास्थ्य पर अपनी निम्नस्तरीय राष्ट्रीय आय का 5.5 प्रतिशत सार्वजनिक क्षेत्र में तथा निजी रूप से 0.8 प्रतिशत अर्थात् कुल मिलाकर 6.3 प्रतिशत ही व्यय करता है। क्यूबा एक निम्न मध्यमवर्गीय आय वाला राष्ट्र है और उसकी प्रति व्यक्ति आय अमरीका से बहुत कम है। इसके बावजूद दोनों राष्ट्रों के विभिन्न स्वास्थ्य मापदण्ड लगभग समान हैं। क्यूबा और अमरीका दोनों की औसत आयु 78 वर्ष है जबकि क्यूबा की शिशु मृत्यु दर अमरीका से भी कम और वहां की अश्वेत आबादी की शिशु मृत्यु दर की तुलना में तो आधी ही है। जन्म के समय कम वजन वाले शिशुओं का प्रतिशत अमरीका में 7 और क्यूबा में शून्य

है। क्यूबा में छोटी माता अर्थात् मीजल्स से बचाव के लिए 98 प्रतिशत बच्चों को टीका लगाया जाता है जबकि अमरीका में ऐसे बच्चों का प्रतिशत 93 ही है। इन थोड़े से उदाहरणों से स्पष्ट है कि क्यूबा विभिन्न स्वास्थ्य मापदण्डों पर अमरीका के समकक्ष या कुछ मापदण्डों की दृष्टि से उससे भी बेहतर है।

ऐसे में यह प्रश्न उठता है कि क्यूबा अमरीका की तुलना में मात्र 4 प्रतिशत राशि व्यय करे उसके समकक्ष ही स्वास्थ्य मापदण्ड कैसे प्राप्त कर सका है? क्यूबा की पूरी स्वास्थ्य व्यवस्था समुदाय आधारित है, जबकि अमरीकी व्यवस्था बीमारियों की चिकित्सा पर केंद्रित है। क्यूबा में एक हजार की आबादी पर एक चिकित्सक है। अर्थात् प्रत्येक मध्यम श्रेणी के ग्राम में एक चिकित्सक उपलब्ध होता है और यह चिकित्सक प्रायः महिला ही होती है। चिकित्सकीय प्रशिक्षण हेतु उसका चुनाव उसकी शैक्षणिक उपलब्धियों के साथ-साथ उसकी बस्ती के अनुमोदन पर निर्भर होता है। उसके लिए उसी बस्ती को चिकित्सकीय सेवाएं प्रदान करना भी आवश्यक होता है। इस चिकित्सक या महिला चिकित्सक को 3 वर्षीय प्रशिक्षण दिया जाता है और वह सामान्य रूप से होने वाली सभी बीमारियों की चिकित्सा में समर्थ होती है। इस चिकित्सक के उसी बस्ती के निवासी होने तथा वहाँ सतत कार्य करने के कारण वह न केवल प्रत्येक निवासी को व्यक्तिशः जानती है, उसके चिकित्सकीय इतिहास से भी परिचित होती है। यह चिकित्सा में बहुत सहायक होता है। चिकित्सा में स्थानीय जड़ी बूटियों का भी खुलकर प्रयोग किया जाता है जो चिकित्सकीय व्यय को निम्न स्तर

पर बनाए रखता है। व्यवस्था का सारा जोर इस बात पर होता है कि अक्वल तो लोग बीमार पड़ें ही नहीं और बीमार पड़ें तो उन्हें तत्काल चिकित्सा उपलब्ध हो।

अगर कोई रोगी स्थानीय चिकित्सक द्वारा इलाज के बाद भी स्वस्थ न हो तो यह उसका दायित्व होता है कि वह रोगी को लेकर क्षेत्रीय पोलीक्लिनिक ले जाए और वहां के चिकित्सक को रोगी के रोग का इतिहास तथा पृष्ठभूमि और अब तक दी गई चिकित्सा से अवगत कराए। पोलीक्लिनिक राष्ट्रीय स्तर की स्वास्थ्य सुविधाएं और स्थानीय चिकित्सा व्यवस्था के मध्य की एक कड़ी होता है और वहां पर विशेषज्ञ चिकित्सकों की सेवाएं उपलब्ध होती हैं। वहां के चिकित्सक चिकित्सालय के समय के पश्चात भी रोगी को चिकित्सा प्रदान करने के लिए भी तैयार रहते हैं। किसी रोगी को वहां चिकित्सा देने के पश्चात भी वह अगर स्वस्थ नहीं हो पाता है तो वहां के चिकित्सक का दायित्व होता है कि वह उसे लेकर राष्ट्रीय चिकित्सा संस्थानों में जाए और वहां के विशेषज्ञ चिकित्सक को रोगी के इतिहास, दी गई चिकित्सा और प्राप्त परिणामों से अवगत कराए। इस तरह क्यूबा की पूरी चिकित्सा व्यवस्था समुदाय केन्द्रित होती है। दूसरी ओर अमरीकी स्वास्थ्य सेवाएं बीमारियों की अति-चिकित्सा को प्रोत्साहित करती हैं, अस्पतालों में अनावश्यक भर्ती को भी प्रोत्साहित करती हैं और प्रायः वहां भर्ती रहने के दौरान मरीज अन्य रोगियों के संपर्क से छूट का शिकार भी हो जाता है। सारी व्यवस्था बीमारियों की रोकथाम के स्थान पर उनकी चिकित्सा पर केंद्रित होने से अत्यधिक महंगी भी हो जाती है। दूसरी ओर इस व्यवस्था में गरीबों को जो कि प्रायः अश्वेत होते हैं, आवश्यक होने पर भी चिकित्सा या अस्पताल में भर्ती करने से मना कर दिया जाता है। अश्वेत आबादी ही इस प्रक्रिया का विशेष शिकार होने से उनके स्वास्थ्य मापदण्ड निम्नस्तरीय होते हैं। इन सब कारणों से अमरीकी स्वास्थ्य व्यवस्था अत्यन्त खर्चीली और निम्नस्तरीय परिणामों वाली हो जाती है।

कई बीमारियों का उन्मूलन

क्यूबा अपनी श्रेष्ठ स्वास्थ्य सेवाओं के कारण अनेक संक्रामक और चिरकालिक रोगों से काफी समय पूर्व ही मुक्ति प्राप्त चुका है। उदाहरण के लिए पोलियो जिससे भारत अभी भी जूझ रहा है, उससे क्यूबा आज से 50 वर्ष पूर्व अर्थात् सन् 1962 में ही मुक्त हो चुका है। इसी तरह उसने

मलेरिया से 1967 में, नवजात शिशुओं को होने वाले टीटनेस से 1972 में, डीपथीरिया से 1979 में, जन्मजात र्यूबेला सिन्ड्रोम और मम्स के बाद होने वाले मेनिन्जाइटिस से 1989 में, खसरा से 1993 में, र्यूबेला से 1995 में और टीबी मेनिन्जाइटिस से 1997 में ही मुक्ति प्राप्त कर चुका है। क्यूबा और न्यूयार्क शहर की आबादी लगभग समान है और जब न्यूयार्क में एड्स के रोगियों की संख्या 43000 थी, उस समय में इनकी संख्या मात्र 200 ही थी।

क्यूबा की सारी चिकित्सा पूर्णतः निशुल्क होती है। कम खर्चीली होने से दक्षिणी अमेरिका राष्ट्रों के नागरिक भी उसका लाभ उठाते हैं। वहां के अधिकांश हृदय रोगी तो क्यूबा में ही अपनी चिकित्सा करवाते हैं। इसके साथ ही यह छोटा सा राष्ट्र विश्व के किसी भी राष्ट्र में प्राकृतिक अथवा मानव निर्मित हादसा होने पर अपने चिकित्सक और अन्य स्वास्थ्यकर्मी भेजने के लिए तैयार रहता है। कुछ साल पहले पाकिस्तान में भूकंप के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में भारी क्षति हुई थी तो क्यूबा के चिकित्सकों ने जाकर वहां के नागरिकों को चिकित्सा प्रदान की थी तथा महामारियों को फैलने से रोका था। निम्न मध्यमवर्गीय आय वाला छोटा सा राष्ट्र होते हुए भी क्यूबा ने अब तक 154 राष्ट्रों में प्रतिकूल परिस्थितियों के समय वहां कुल 1,24,000 स्वास्थ्यकर्मी भेज कर अमूल्य स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान की हैं। क्यूबा दक्षिण अमरीकी राष्ट्रों के विद्यार्थियों को चिकित्सा शिक्षा भी प्रदान कर रहा है। इन राष्ट्रों के 20,000 विद्यार्थी वहां चिकित्सा शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

क्यूबा की चिकित्सा का मॉडल कोई स्थिर मॉडल न होकर परिस्थितियों और समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप अपने आपको ढालने की क्षमता वाला है। आम तौर पर किसी भी देश में किसी विशिष्ट बीमारी के लिए एक निश्चित दवा ही प्रस्तावित की जाती है, वहीं दूसरी ओर क्यूबा की स्वास्थ्य व्यवस्था मरीज की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए चिकित्सा प्रस्तावित करती है। इस वजह से वहां की चिकित्सा व्यवस्था दवाओं के साइड इफेक्ट्स जैसी समस्याओं से कम प्रभावित होती है। क्यूबा की स्वास्थ्य सेवाएं विकासशील राष्ट्रों के लिए श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करती है। परन्तु अफसोस की बात यह है कि इन राष्ट्रों के लिए अनुपयुक्त होते हुए भी वे अमरीकी स्वास्थ्य मॉडल ही अपना रहे हैं और अपनी स्वास्थ्य सेवाओं को अत्यन्त महंगी और गरीबों की पहुंच के बाहर बना रहे हैं।

दुनिया का सबसे गरीब राष्ट्रपति

उरुग्वे के 77 वर्षीय राष्ट्रपति खोसे मुजिका राजधानी के भव्य राष्ट्रपति भवन में रहने के बजाए बाहर अपने खेत में बहुत साधारण से देहाती मकान में रहते हैं। घर के बाहर कपड़े सूखते मिल जाएंगे और झाड़ियाँ दिखेंगी। उनके खेत में फूलों की खेती होती है और वे खुद ट्रेक्टर चलाते देखे जा सकते हैं। आगंतुकों को वे खुद रसोई में जाकर मेट नामक एक हर्बल पेय बनाकर तूबे जैसे बरतन में पिलाते हैं। वे शाकाहारी हैं और कभी टाई नहीं पहनते हैं। उनके घर के रास्ते भी पक्के नहीं हैं। व्यक्तिगत संपत्ति के नाम पर उनके पास सिर्फ 1800 डालर (करीब एक लाख रुपए) की एक पुरानी कार है, जिसे वे खुद चलाते हैं। जमीन, मकान और ट्रेक्टर उनकी पत्नी के नाम पर हैं। उनकी पत्नी भी सांसद हैं।

इस राष्ट्रपति को 12000 डालर (करीब 6 लाख 60 हजार रू.) का मासिक वेतन मिलता है, जिसका केवल 10 फीसदी वे अपने पास रखते हैं और 90 फीसदी वेतन गरीबों के हित में चलने वाले कार्यक्रमों में दान दे देते हैं।

सुरक्षा के नाम पर खोसे मुजिका के घर के बाहर रास्ते पर सादे कपड़ों में दो पुलिस वाले बैठे रहते हैं। वे एक साधारण नागरिक की तरह घूमते रहते हैं। पिछले दिनों वे पत्नी के साथ समुद्र किनारे एक नगर में छुट्टी मनाने गए थे और रास्ते के किनारे एक साधारण से रेस्तरां में लंच ले रहे थे, तो एक नौजवान ने उन्हें पहचान लिया और उनकी तस्वीर फेसबुक पर जारी कर दी। हजारों लोगों ने उसे देखा और हैरान रह गए। ट्विटर पर उरुग्वे के एक नागरिक ने लिखा, 'हम दुनिया का एकमात्र देश होंगे जहां का राष्ट्रपति अपनी प्रथम महिला के साथ अंगरक्षकों के बगैर कहीं भी लंच करने चला जाता है।'

पिछले नवंबर में दुनिया के सबसे गरीब राष्ट्रपति के रूप में उनकी काफी चर्चा रही। इस पर वे रोमन दार्शनिक सेनेका को उद्धृत करते हैं- 'वह आदमी गरीब नहीं है जिसके पास कम है, बल्कि वह गरीब है जिसे ज्यादा और ज्यादा पाने की ललक रहती है।' वे कहते हैं कि यदि आपके पास बहुत सारी संपत्ति और चीजें हो

तो उनको बनाए रखने के लिए आपको जिंदगी भर गुलाम की तरह काम करना पड़ता है।

उरुग्वे के ये राष्ट्रपति सादे जीवन के इस सिद्धांत की सीख दुनिया को भी देना चाहते हैं। पिछले जून में जलवायु सम्मेलन को संबोधित करते हुए उन्होंने पूछा कि क्या हम अमीर देशों के उपभोग और विकास के मॉडल को लागू करना चाहते हैं? यदि लातीनी अमरीका के आदिवासियों के पास भी प्रति परिवार उतनी कारें हों जितनी जर्मनों के पास हैं तो क्या होगा? पृथ्वी पर कितनी ऑक्सीजन बचेगी? अमीर देशों जितना उपभोग और कचरे का स्तर पूरी सात-आठ अरब आबादी देने लायक संसाधन इस ग्रह पर हैं क्या?

उरुग्वे 33 लाख आबादी का लातीनी अमरीका का एक छोटा सा देश है। खोसे मुजिका 2009 में पांच साल के लिए इसके राष्ट्रपति चुने गए। साठ और सत्तर के दशक में वे दुपामारोस नामक एक वामपंथी सशस्त्र गुरिल्ला समूह के सदस्य थे जो क्यूबा की क्रांति से प्रेरित था और गन्ना मजदूरों और विद्यार्थियों ने शुरू किया था। खोसे मुजिका 14 साल जेल में रहे, जिनमें दस बरस से ज्यादा तो उन्हें अलग काल-कोठरी में रखा गया जहां केवल मेढक और चूहे उनके साथी थे। बाद में 1985 में लोकतांत्रिक सरकार बनने पर उन्हें छोड़ा गया। उनकी पत्नी भी एक पूर्व गुरिल्ला हैं।

आज भारत में और बाकी दुनिया में सत्तासीन नेता शान-शौकत और फिजूलखर्च में नए-नए प्रतिमान कायम कर रहे हैं, वहां उरुग्वे के इस राष्ट्रपति का किस्सा बिरला और प्रेरणादायक है। क्या आपको खोसे मुजिका में गांधी का प्रतिबिंब दिखाई दे रहा है?

(संकलित)



शब्द एक राष्ट्र है

एदुआर्दो गालेआनो

जब चावेज की मुलाकात अमरीका के नए राष्ट्रपति ओबामा से पहली बार हुई तो चावेज ने उनको एक किताब भेंट दी और पढ़ने का आग्रह किया। इस किताब का नाम था 'लातीनी अमरीका की खुली धमनियाँ' और लेखक थे एदुआर्दो गालेआनो। इस मशहूर लेखक के एक महत्वपूर्ण निबंध के अंश पेश हैं। लातीनी अमरीका में आई जबरदस्त चेतना और क्रांतिकारी सोच की एक झलक इस में मिलती है।

इस निबंध का सीधे स्पानी भाषा से हिंदी में अनुवाद पी.कुमार मंगलम ने किया है। वे जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में लातीनी अमरीकी साहित्य के शोधछात्र हैं।
फोन: 09555298438
pkmangalam@gmail.com

जब भी कोई लिखता है तो वह औरों के साथ कुछ बांटने की जरूरत ही पूरी कर रहा होता है। यह लिखना अत्याचार के खिलाफ और अन्याय पर जीत के सुखद एहसास को साझा करने के लिए ही होता है। यह अपने और दूसरों के अकेले पड़ जाने के एहसास को खत्म करने के लिए होता है। यह माना जाता है कि साहित्य ज्ञान और समझ को फैलाने का जरिया है और यह पढ़ने वालों की भाषा और आचरण पर असर डालता है।... दरअसल, लिखा उन्हीं के लिए जाता है जिनके नसीब या बदनसीबी के साथ जुड़ाव महसूस किया जाता है। ये वो लोग हैं जो न ढंग का खा सकते हैं, न सो सकते हैं, वे इस दुनिया के सबसे दबे-कुचले, अपमानित और इसलिए सबसे भयंकर विद्रोही लोग हैं।

इनमें से ज्यादातर पढ़ना नहीं जानते हैं। थोड़े से पढ़े-लिखे लोगों में से कितनों के पास इतना पैसा है कि वे किताबें खरीद सकें? तब कोई भी क्या सिर्फ यह कह कर कि वह आम लोगों (जो अभी के दौरान में एक भ्रामक लेकिन बहुत प्रचलित शब्द है) के लिए लिख रहा है, इस भयंकर सच्चाई से मुंह मोड़ सकता है?

हम किसी चांद पर नहीं रहते और न ही हमारी दुनिया इस दुनिया से बाहर की कोई जगह है। यह शायद हमारी खुशनसीबी और बदनसीबी दोनों ही है कि हम दुनिया के सबसे ज्यादा उथल-पुथल भरे क्षेत्र लातीनी अमरीका में रह रहे हैं और वह भी इतिहास के सबसे कठिन दौर में। वर्गों में बांट दिए गए समाज की विसंगतियां धनी और औद्योगिक देशों के मुकाबले यहां कहीं ज्यादा तीखी हैं।

यह पूरी व्यवस्था ही ऐसी है जहां आबादी का सिर्फ छह फीसदी हिस्सा पूरी दुनिया की कमाई का आधा हिस्सा यूं ही गटक जाता है। इस हिस्से की अमीरी की कीमत बाकी दुनिया भयानक गरीबों में जीकर चुकाती है। चंद अमीरों और बाकी सारे गरीब बना दिए गए लोगों के बीच की खाई लातीनी अमरीका देशों में लगातार बढ़ रही है और इसे बनाने और बरकरार रखने के सबसे बर्बर उपाय भी यहीं अपनाए जा रहे हैं।

खेती और खनिज पर आधारित समाज की तमाम बुराइयों और समस्याओं को दूर किए बिना ही यहां बहुत ही सीमित क्षमता वाले और हमेशा विदेशी सहायता पर निर्भर उद्योग खड़े कर दिए गए हैं जिससे ये समस्याएं कम होने की बजाए बढ़ी ही हैं। जनता को अपने वादों से लुभाने और भरमाने में कुशल नेता भी इस कड़वी सच्चाई को नहीं छिपा पा रहे हैं। जनता के नाम पर कुछ भी करने की दुहाई देने वाला पुराना राजनीतिक खेल भी लगातार बढ़ रही सामाजिक असमानता को ढकने-छिपाने के बजाए उसे बढ़ा रहा है। हमारी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में प्रभुतासंपन्न वर्ग और देश अपना दबदबा शोषण और ताकत से ही कायम रखते हैं वरना एक यातना शिविर की तरह लगने वाली यह सामाजिक व्यवस्था कैसे टिकी रह सकती थी? व्यवस्था के शिकार बने अनगिनत बेकार और संभावित विद्रोही (और इसलिए खतरनाक) लोगों को काबू में रखने का और उपाय भी क्या है सत्ता के पास? वैसे भी हर जगह कंटली बाड़ लगाना संभव नहीं रह गया है। बेरोजगारी, गरीबी और इससे पैदा

हो रहे समाजिक और राजनीतिक तनावों वाले दौर में सभ्य जीवन जीने और अच्छा व्यवहार करने की खुशफहमी भी खत्म होती जा रही है। आज की व्यवस्था का असली चेहरा अपने क्रूरतम रूप में दुनिया के गरीब और पिछड़े बना दिए गए इलाकों में ही दिखता है।

लातीनी अमरीका के ज्यादातर देशों में कायम तानाशाहियां जनता का शोषण बड़ी ही सफाई और पेशेवर चालाकी से करती हैं। संकट के इस दौर में बड़े पूंजीपतियों के लिए व्यापार की छूट असल में बाकी गरीब जनता के लिए जेल की राह है। लातीनी अमरीकी देशों के वैज्ञानिक दूसरे देशों में काम कर रहे हैं। यहां की प्रयोगशालाओं और विश्वविद्यालयों के पास पैसा नहीं है और तकनीकी ज्ञान हमेशा ही बाहर से महंगे दामों पर लिया जाता रहा है। इस सबके बीच डर और आतंक पैदा करने के सभी उपायों में महारत हासिल कर ली गई है। आज का लातीनी अमरीका दुनिया भर में सजा देने, लोगों और विचारों की हत्या करने, उन्हें खामोश, डरपोक और कायर बना देने की नित नई

तकनीकों का गुर बन बैठा है।

लेखक क्या करें

सवाल यह है कि हम जैसे लोग जो बेआवाज लोगों की आवाज बनना चाहते हैं वे इस भयानक माहौल में कैसे काम करें? जब डंडे और बाजार के जोर से सबको गूंगा-बहरा बनाया जा रहा है तब क्या हम अपनी बात सुना सकते हैं? आज के हमारे लोकतंत्र दरअसल चुप्पी और डर पैदा करने वाले लोकतंत्र हैं। ऐसे में लेखकों के लिए जो भी थोड़ी-सी जगह बची है क्या वह इनके द्वारा व्यवस्था के आगे समर्पण और इसलिए इनकी हार का सबूत नहीं है? हमारी लेखकीय आजादी की सीमा क्या है और हम इससे किन लोगों को फायदा पहुंचा रहे हैं?

न्याय और आजादी के लिए और भूख तथा खुले और परोक्ष दमन करने वाली व्यवस्था के खिलाफ बात करना और लिखना है तो बहुत अच्छा, लेकिन सत्ता हमें यह छूट किस हद तक और कब तक देती है? ऐसे और

प्रतिरोध के विविध रंगों का लेखक गालेआनो

पी.कुमार मंगलम

एदुआर्दो गालेआनो इस समय सबसे अधिक पढ़े जाने वाले लातीनी अमरीकी लेखकों में शुमार हैं। उनका जन्म उरुग्वे में 1940 में हुआ था। साप्ताहिक समाजवादी अखबार एलसोल(सूर्य) के लिए कार्टून बनाने से शुरू हुआ उनका लेखन अपने देश के समाजवादी युवा संगठन से गहरे जुड़ाव के साथ-साथ चला। राजनीतिक संगठन से इतर भी कायम संवाद से विविध जन सरोकारों को उजागर करना उनके लेखन की खास विशेषता रही है। यह 1971 में आई उनकी किताब *लास वेनास आबिएर्तास दे अमेरिका लातिना* (लातीनी अमरीका की खुली धमनियां) से सबसे पहले जाहिर हुआ। यह किताब कोलंबस के वंशजों के लिए 'नई दुनिया' में चले दमन, लूट और विनाश का बेबाक खुलासा है। साथ ही 19वीं सदी की



शुरुआत में आजाद हुए देशों में भी जारी रहे इसी सिलसिले का दस्तावेज भी। खुशहाली के सपनों का पीछा करते-करते क्रूरतम तानाशाहियों की चपेट में आया तब का लातीनी अमरीका इस किताब में खुद को देख रहा था। यह अकारण नहीं है कि 1973 में उरुग्वे

और 1976 में अर्जन्तीना में काबिज हुई सैन्य तानाशाहियों ने इसे प्रतिबंधित करने के साथ-साथ गालेआनो को खतरनाक लोगों की फेहरिस्त में रखा था। उनकी एक और महत्वपूर्ण किताब *पातास आरिबा: ला एस्कुएला देल मुंदो अल रेबेस* (उलटबांसियां: उल्टी दुनिया की पाठशाला, 1998) है। यह किताब वैश्वीकरण जमाने के क्रूर अंतर्विरोधों और विडंबनाओं को दिखाता हुआ एक आईना है, जिसमें भारत सहित तीसरी दुनिया के देशों का अक्स मौजूद है।

भी कई सवाल हैं।

व्यवस्था के लिए सवाल खड़े करने वाले समाचार पत्रों और पत्रिकाओं पर पाबंदी, लेखकों और पत्रकारों को देश निकाला, जेल और मौत दिए जाने में सीधे-सीधे दिखने वाले दमन की बात तो बहुत होती है, लेकिन दमन के और भी कई रास्ते हैं जो परोक्ष होने की वजह से ज्यादा घातक साबित होते हैं। वैसे तो इनकी बात बहुत कम की जाती है, लेकिन हकीकत में लातीनी अमरीका के ज्यादातर देशों में हावी बर्बर और गैर बराबरी बढ़ाने वाली व्यवस्था की यही पहचान बन चुकी है। तो यह अदृश्य दमन काम कैसे करता है? दरअसल ऐसी स्थिति ही नहीं आने दी जाती है कि कोई व्यवस्था के अन्याय को जाने और उसका विरोध करे। मिसाल के लिए लातीनी अमरीका की आबादी का सिर्फ पांच फीसदी हिस्सा ही फ्रिज खरीद सकता है। ऐसे में किताबें खरीदने, उन्हें पढ़ने, उनकी जरूरत महसूस करने और उनसे प्रभावित हो सकने वाले लोग कितने होंगे?

लातीनी अमरीकी लेखक एक संस्कृति उद्योग के दिहाड़ी मजदूर हैं जो भद्र अभिजात्य वर्ग की उपभोक्तावादी जरूरतों को पूरा करते हैं। वे खुद इसी तबके से आते हैं और इसी के लिए लिखते हैं। यही लेखकों की नियति है कि उनका लिखना ले-देकर सामाजिक गैर बराबरी कायम रखने वाली विचाराधारा द्वारा तय सीमा के भीतर ही होता है। साथ ही हम जैसे लेखक जो इन हदों को तोड़ना चाहते हैं उनका भी यही हाल है।

दरअसल, लिखना कुछ-कुछ मौत से लड़ने जैसा है। यह लड़ाई है हमारे अंदर और बाहर फैली मुर्दा उदासी और बेरुखी के खिलाफ। लेकिन यह आने वाली पीढ़ियों के काम तभी आ सकता है जब यह अपनी पहचान के लिए संघर्षरत समुदाय की जरूरतों से खुद को जोड़ लेता है।

मास कल्चर का झुनझुना

मेरी समझ में एक लेखक का मौत की तरह हावी होती उदासी से खुद को बचाना और अपने लिखे की ताकत पहचानना ही बाकियों को उनकी पहचान देता है।

इस तरह, इंसानियत की इस लड़ाई में कला और साहित्य हथियार लेकर चलने वाली अगुआ पंक्ति के सिपाही की तरह है, किसी राजा के आरामगाह की चीज नहीं। लेकिन, लातीनी अमरीका की एक बड़ी आबादी कला और संस्कृति में अपनी हिस्सेदारी से वंचित रखी गई है। हथियार के बल पर थोपी गई बाहरी संस्कृति के हाथों अपनी पहचान हारने और अपने पसीने, खून और सपने की कीमत पर पूंजी और मुनाफा बनाती-बांटती व्यवस्था को जिंदा रखने वाले ऐसे लोगों के लिए मास कल्चर का झुनझुना तैयार किया गया है। यह और कुछ नहीं बल्कि मास के लिए कल्चर के नाम पर लोगों के बोलने, विचारने, कुछ कहने और करने की भावनाओं को नियंत्रित करना ही है। जनता के लिए पेश यह मास कल्चर सच देख सकने की हमारी क्षमता को ही कुंद करता है और बदले में हमें कुछ करने, बनाने, और नया रचने का झूठा अहसास भर देता है।

.....

लातीनी अमरीकी देशों की आबादी का बड़ा हिस्सा काम की तलाश में भटक रहे नौजवानों का है जिनके गुस्से के किसी दिन फूट पड़ने का डर सरकार चला रहे लोगों की नोंद उड़ाए हुए है। यहीं से इस संभावित आक्रोश को कुंद करने की सारी साजिशें शुरू हो जाती हैं। नशे की लत लगाकर युवाओं को उनके समाज से ही काट देना और कुछ कर गुजरने की इच्छाशक्ति खत्म कर देना लगातार किए जा रहे ऐसे कई उपायों में से एक है। इसलिए बेतहाशा बढ़ रही आबादी रोकने की बजाए यहां लोगों के सोचने-समझने की क्षमता ज्यादा कारगर तरीके से नियंत्रित की जाती है। इसके लिए व्यवस्था का सबसे पसंदीदा तरीका है ऐसा माहौल बना देना जहां कोई कुछ सोच ही न सके।

.....

बाजार के कब्जे में प्रतिरोध संस्कृति

सत्तर के दशक में यूरोप और अमरीका की ठहरी और पुरानी पड़ चुकी व्यवस्थाओं के खिलाफ हुए युवा संघर्षों के नारे, उनके प्रतीक, उनका मिजाज और सपने अब बाजार के कब्जे में हैं। नया संसार उभारने वाली छवियां अब आजादी के नारे के साथ बेची और खरीदी जाती है।

इसी तरह, उनका संगीत, उनके पोस्टर, बाल बनाने और कपड़े पहनने का उनका खास अंदाज अब नशे की लत में सपने ढूँढने वाली पीढ़ी और तीसरी दुनिया में ऐसे ही सामानों के फैल रहे कारोबार के काम आ रहे हैं। भयंकर गरीबी और बेकारी में जीने के रोजाना अपमान से जूझ रहे यहां के नौजवानों को ऐसे सीधे-सादे रंग, प्रतीक और नारे दूर कहीं एक अच्छी दुनिया होने की आस देते हैं। नौजवानों को इतिहास के सभी सबक भुलाकर ऐसी लुभावनी दुनिया का सपना देने वाली प्रतिरोध की संस्कृति का न्यौता दिया जाता है। यह प्रतिरोध की संस्कृति दरअसल नशे की संस्कृति है, जिसका हिस्सा बनकर लातीनी अमरीका का नौजवान धनी देशों के युवकों की तरह जीने की अपनी हसरत ही पूरी करता है। उद्योग प्रधान समाज के द्वारा राजनीतिक-आर्थिक

सच्चाइयों से पूरी तरह काट दिए गए तबके की दबी-छुपी बेचैनियों से जन्मी इस भ्रामक प्रतिरोध की संस्कृति का हमारी अस्मिता और अधिकारों की लड़ाई से कोई लेना-देना नहीं है। सबसे अहम बात यह है कि इस नकली प्रतिरोध की संस्कृति ने एक बेहतर और नई दुनिया गढ़ने की हमारी भावनाओं और प्रतीकों को टीवी की कृपा से लगातार फैल रहे सुपर मार्केट में खरीदे-बेचे जाने की चीज बना दिया है। और

तो और, यदि कुछ न करने की और कुछ न होने की हताशा और खीझ फ्रिज और गाड़ियों से नहीं खतम हो रही हो तो दबे-छुपे लेकिन लगातार चलने वाले नशे के बाजार तो हैं ही जो दिन-रात खुशियां और आशाएं बेचते हैं।

जब किसानों-मजदूरों सहित आबादी के बड़े हिस्से की आजादी खत्म की जा रही है तब सिर्फ लेखकों के लिए कुछ रियायतों या सुविधाओं की बात से मैं सहमत नहीं हूँ। व्यवस्था में बड़े बदलावों से ही हमारी आवाज आभिजात्य महफिलों से निकल कर खुले और छिपे सभी प्रतिबंधों को भेद कर उस जनता तक पहुंचेगी जिसे हमारी जरूरत है और जिसकी लड़ाई का हिस्सा हमें बनना है। अभी के दौर में तो साहित्य को इस गुलाम समाज की

आजादी की लड़ाई की उम्मीद ही बनना है।

इसी तरह, यह सोचना भी गलत होगा कि जीने के रोज के संघर्षों से जूझ रही बदहाल जनता सिर्फ साहित्य और कला के माध्यम से अपनी छीनी जा चुकी सृजन क्षमता को दुबारा पा सकेगी। जीवन की कड़वी सच्चाइयों के मारे कितने ही प्रभावशाली लोग कुछ करने से पहले ही समय के अंधेरे में खो जाते हैं। कितने ही लेखकों और कलाकारों को तो अपने अंदर छिपी नई दुनिया रचने-गढ़ने की अपनी ताकत का एहसास ही नहीं हो पाता।

.....

होता यह है कि ज्यादातर मौकों पर सरकारी संस्कृति के खिलाफ आकार ले रही प्रतिरोध की संस्कृति को अपसंस्कृति बताकर खारिज कर दिया जाता है क्योंकि न

इंसानियत की इस लड़ाई में कला और साहित्य हथियार लेकर चलने वाली अगुआ पंक्ति के सिपाही की तरह है, किसी राजा के आरामगाह की चीज नहीं। लेकिन, लातीनी अमरीका की एक बड़ी आबादी कला और संस्कृति में अपनी हिस्सेदारी से वंचित रखी गई है। हथियार के बल पर थोपी गई बाहरी संस्कृति के हाथों अपनी पहचान हारने और अपने पसीने, खून और सपने की कीमत पर पूंजी और मुनाफा बनाती-बांटती व्यवस्था को जिंदा रखने वाले ऐसे लोगों के लिए मास कल्चर का झुनझुना तैयार किया गया है।

तो इसके पास बाजार और टीवी की ताकत है और न ही यह सबको सपनीली दुनिया के वादे करती है। इसे अक्सर आभिजात्य तबके द्वारा भोगी और व्यवस्था द्वारा थोपी जा रही संस्कृति का ही बिगड़ा रूप बताया जाता है। लेकिन, कभी-कभी आम लोगों की यादों में बसा इतिहास किसी पेशेवर लेखक के उपन्यास से कहीं ज्यादा सच बयान करता है और जिंदगी की असली सुगंध

भाषा के सभी नियमों पर खरी होने का दावा करने वाली कविताओं से ज्यादा कुछ बेनामी लोकगीतों में आबाद होती है। इसी तरह दुख-दर्द और उम्मीदों के हजारों रंग समेटे लोगों की आपबीती जनता के नाम पर लिखी गई किसी भी किताब से ज्यादा असरदार होती है।

हमारी असली पहचान

हमारी असली पहचान इतिहास से जन्मती और आकार लेती है जो पत्थर पर पड़े और सुरक्षित हो चुके पैरों के निशान की तरह समय के अलग-अलग पड़ावों से होकर गुजरे हमारे सफर की गवाह बनी रही है। लेकिन इतिहास से यह जुड़ाव पुरानी चीजों और यादों से चिपका

रहना नहीं है जो बड़ी आसानी से कट्टरता का भी रूप ले सकता है। इसी तरह यह भी तय है कि अभी तक दबी हुई पहचान कुछ खास तरह के कपड़ों, रीतों रिवाजों और चीजों से हमारे दिखावटी मोह से भी जाहिर नहीं होती। यह सब तो विकास की दौड़ में परास्त और पछाड़ दिए गए देशों के बाजारों में विदेशी पर्यटकों को लुभाने के काम ही आते हैं। हम वही हैं जो हम करते हैं। खासकर हम जो हैं उसे बदलने के लिए जो कुछ करते हैं। हमारी पहचान हमारे इन्हीं कामों और हमारे संघर्षों से बनती है। इसलिए पहचान की यह लड़ाई व्यवस्था के उन सभी रूपों से लोहा लेना है जो हमें सिर्फ एक आज्ञाकारी कामगार और खरीददार बनाती है। तब लेखक होने का मतलब इस चुनौती और प्रतिरोध की आवाज बनना ही है।

अपने दौर के तमाम संकटों और बदलाव की चाह को समेटे तथा सभी तरह के खतरों से भिड़ने वाला साहित्य ही नई और बेहतर दुनिया की तस्वीर दिखा सकता है और ख्वाब देखने की हिम्मत और हुनर वाले लेखकों के जरिए वो इस दुनिया को हासिल करने का रास्ता भी दिखा सकता है। जाहिर है, अमरीकी महाद्वीपों में फैले अन्याय और उदासी के माहौल में साहित्य का अपना एक अलग महत्व है।

साहित्य एक यात्रा

किसी किताब ने लोगों को किस हद तक प्रभावित किया है यह सिर्फ उसके छपने और बिकने की संख्या से तय नहीं होता। कई बार सीधे-सीधे दिखने के साथ-साथ यह असर बहुत व्यापक स्तर पर देखा और समझा जा सकता है। ऐसे मौकों पर इन किताबों में दर्ज बातें अपने समय के सवालियों और जरूरतों को आवाज दे सकती हैं, बशर्ते लिखने वालों ने खुद के अंदर भी इन्हीं सवालियों और अनिश्चितताओं को महसूस किया हो। साहित्य अपने आस-पास की सच्चाइयों से रूबरू किसी लेखक के अंदर आकार लेता और फिर सबके सामने आता है। इस तरह रचने-गढ़ने का यह काम सबको साथ में लेकर किया जाता है और जरूरी नहीं है कि कोई लेखक अपने जीवनकाल में इस सामूहिक यात्रा का सफर पूरा होते देख ही पाए।

लेखक की भूमिका

लेखक न तो कोई भगवान होता है और न ही व्यवस्थाओं की मर्जी का गुलाम। यह सही है कि हम

आसपास की घटनाओं से प्रेरणा लेकर अपना साहित्य बुनते हैं लेकिन इसका यह मतलब भी नहीं है कि हम अपने को सिर्फ यहीं तक सीमित रखें। देखा जाए तो लिखना एक गतिविधि ही है। यह अपने आप में कोई जादुई चीज नहीं है, लेकिन जब एक लेखक हमें इस दुनिया का असली रंग देखने और बेहतर दुनिया बसाने का हौसला देने वाले लोगों और अनुभवों के साथ ला खड़ा करता है तब उसके लिखे का असर किसी जादू से कम भी नहीं होता। साथ ही अगर उसका लिखा लोगों को विद्रोही और सत्ता के लिए अपराधी बनाने के साथ-साथ उनकी सोच बदलता या उसे नए आयाम देता है तब वह बदलाव की लड़ाई का हिस्सा जरूर बन सकता है। संघर्षों से ऐसे सहज रूप से जुड़े लेखक अभिमान और खुद को अच्छा साबित करते रहने की होड़ में नहीं रहते क्योंकि वे जानते हैं कि उनका सफर औरों से अलग और ज्यादा कठिन है।

.....

साहित्य अपने आप सब कुछ ठीक कर देगा यह मानना खामख्याली ही होगी। लेकिन बदलाव की लड़ाई में साहित्य की भागीदारी को सिरे से खारिज करना भी सरासर बेवकूफी होगी। लिखते समय हम इस व्यवस्था से तय होती हमारी सीमाओं से अच्छी तरह वाकिफ होते हैं। सच कहें तो यही सीमाएं समाज की सच्चाइयों को हमारे सामने खोलती भी हैं। हम अपनी इन्हीं सीमाओं के साथ हताशा और निराशा से भरे इस दौर में व्यवस्था से भिड़ते हुए अंततः इन सीमाओं को भी ध्वस्त कर सकते हैं।

.....

लिखने की सार्थकता

हमारे लिखने की सार्थकता तभी है जब हम अपनी बात बिना डरे, पक्के इरादे के साथ और बेबाकी से रख पाएं और एक बेहतर दुनिया का सपना देकर लोगों को लड़ने का हौसला दे पाएं। हमारी ख्वाहिश वह भाषा गढ़ने की है जो जन संघर्षों से डरी और पराजित हो रही व्यवस्था की चाकरी करने वाले लेखकों की वाह-वाह और जय-जयकार के उलट कहीं ज्यादा बेखौफ और खूबसूरत हो।

लेकिन सवाल सिर्फ भाषा का ही नहीं है। सवाल यह भी है कि हम अपनी बात रखते कैसे हैं। प्रतिरोध की संस्कृति को अपनी बात रखने के लिए सभी मौजूदा तरीके काम में लाने होंगे और संवाद के किसी भी माध्यम के

असर को छोटा समझने की आभिजात्य सोच से बचना होगा। हमारे पास समय कम है, लड़ाई मुश्किल और करने को बहुत कुछ है, सामाजिक बदलाव के लिए लड़ रहे लोगों के लिए लिखना इस लड़ाई के बहुत सारे मोर्चों में से एक है। हम यह नहीं मानते कि साहित्य सिर्फ बुर्जुआ वर्ग के घरों में ताक में सजाकर रखी जाने वाली कोई चीज भर है। अखबारों में छपने वाली खबरें, लेख, विचार और फिल्में तथा रेडियो और टी.वी. के कार्यक्रमों के जरिए अनगिनत लोगों के दिलों को छू लेने वाले संवाद हमेशा ही सिर्फ गरीब और अनपढ़ जनता के समय काटने की चीजें नहीं हैं जैसा कि संवाद के इन सहज अवसरों को तुच्छ कहकर खारिज करने वाले साहित्य जगत के मठाधीश समझते आए हैं। लोगों को सुपर मार्केट और हवाई जिंदगी की मदहोशी देकर सच से बेखबर बना देने वाले संचार माध्यमों के

फैलते-कसते जाल से लड़ती-भिड़ती, अपनी आवाज बुलंद करती जनवादी पत्रकारिता एक बेहतर दुनिया का सपना और हौसला देने वाली कितनी ही आवाजों के बलिदान की गवाह बनती है। अपनी रचनात्मकता और प्रभाव में यह किसी

भी महान और बेस्टसेलर करार दिए गए उपन्यासों या कहानियों से कम नहीं है।

शब्द एक शस्त्र है

मुझे विश्वास है अपने काम पर और शब्द के अपने हथियार पर। मैं यह कभी नहीं समझ पाया कि भुखमरी और बेकारी के इस दौर में साहित्य की सीमाओं की दुहाई देने वाले लोग फिर लिखते ही क्यों हैं? या फिर यह भी कि क्यों लोग शब्दों का इस्तेमाल सिर्फ अपनी भड़ास निकालने या चंद नारों या पार्टी दस्तावेजों के लिए अपनी भक्ति दिखाने के लिए करते हैं? शब्द तो एक हथियार की तरह हैं। यह हम पर निर्भर करता है कि हम चाहें तो इससे व्यवस्था को उलट देने का हौसला दे दें या सब कुछ अच्छा चल रहा है मानकर प्रकृति और ईश्वर का गुणगान करते रहें।

सच कहूं तो अभी के लातीनी अमरीकी साहित्य के लिए सबसे बड़ा काम बेहतर दुनिया की हमारी साझी समझ के खिलाफ बेधड़क और खुलेआम चल रहे सरकारीकरण और बाजारीकरण से शब्दों को बचाना है क्योंकि आजकल 'आजादी' मेरे देश की एक जेल का नाम है और तानाशाह सरकारों ने खुद को 'लोकतंत्र' घोषित कर रखा है। अब 'प्यार' इंसान का अपनी गाड़ी से लगाव जताने और 'क्रांति' बाजार में आए किसी नए ब्रांड के धमाकेदार प्रचार के काम आ रहे हैं। अब हमें खास और महंगे ब्रांड का साबुन रगड़ने पर 'गर्व' और फास्ट-फूड खाने पर 'खुशी' का अहसास होता है। शांत देश दरअसल बेनाम कब्रों की लगातार बढ़ते जाने वाली कतार है और स्वस्थ इंसान वह है जो सब कुछ देखता है और चुप रहता है।

घोषित-अघोषित

राज्य दमन और पुलिसिया आतंक के बावजूद हम लिखते हुए अपने समय और लोगों को नई पहचान और आवाज दे सकते हैं। आज के दौर में लिखना यह कहना भी है कि हम यहां हैं और यहीं के हैं, और ऐसे ही रहे हैं। धीरे-धीरे लातीनी अमरीका में

आजकल 'आजादी' मेरे देश की एक जेल का नाम है और तानाशाह सरकारों ने खुद को 'लोकतंत्र' घोषित कर रखा है। अब 'प्यार' इंसान का अपनी गाड़ी से लगाव जताने और 'क्रांति' बाजार में आए किसी नए ब्रांड के धमाकेदार प्रचार के काम आ रहे हैं। अब हमें खास और महंगे ब्रांड का साबुन रगड़ने पर 'गर्व' और फास्ट-फूड खाने पर 'खुशी' का अहसास होता है।

एक नए तरह का साहित्य आकार ले रहा है। ऐसा साहित्य जो लोगों को सब कुछ खत्म हो चुकने की उदासी नहीं बल्कि कुछ नया करने की ताकत दे रहा है। यह मार दिए गए हमारे लोगों को इतिहास में दफन नहीं करता बल्कि उन्हें हमारे सामने ला खड़ा करता है। यह सब कुछ भूल जाना नहीं बल्कि इतिहास के पन्नों से बदलाव की हमारी साझा लड़ाई की वजहें और जरूरतें ढूंढना सिखाता है। यही साहित्य लड़ने की हमारी परंपरा और उसके गवाह रहे अनगिनत लोकगीतों और कहानियों में गुंज रहे शब्दों का सच्चा साथी और पहरूआ है। अगर हम यह मानते हैं कि इतिहास सिर्फ यादें खरोँचने से कहीं ज्यादा उम्मीद जगाने की कोई चीज है तो यह उभरता हुआ साहित्य उन तमाम सारे लोगों को हाथ दे सकेगा जो आज नहीं तो कल किसी भी तरह से उलटबाँसियों से भरे हमारे इतिहास को बदल देने वाले हैं।

नए इंडिया की फिल्में

प्रियदर्शन

हिंदी सिनेमा में काफी तकनीकी और कलात्मक निखार आया है। लेकिन भारतीय समाज के वास्तविक द्रंघों से वह दूर होने लगा है। उसमें विदेशी प्रभाव और अनुकरण भी ज्यादा दिखाई देता है।

हमारे देश में उदारिकरण के प्रभावों की चर्चा अब तक मूलतः आर्थिक और कुछ हद तक सामाजिक संदर्भों में होती रही है। इसके सांस्कृतिक प्रभाव अब तक सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा नहीं बन पाए हैं, जबकि इस पूरे दौर ने सबसे ज्यादा तोड़फोड़ हमारे सांस्कृतिक मानस पर की है। खासकर बीसवीं सदी में संस्कृति के सबसे लोकप्रिय उपादान सिनेमा पर इसका प्रभाव बहुत गहरा दिखता है। हिंदी सिनेमा के संदर्भ में कई स्तरों पर इस प्रभाव की पहचान की जा सकती है।

पहली बात तो यह कि तकनीकी तौर पर यह सिनेमा बहुत समृद्ध हुआ है। हॉलीवुड की फिल्मों के संपर्क में आने के बाद ब्यौरों के प्रति एक नई संवेदनशीलता इसमें दिखाई पड़ती है। बहुत सारे अर्थों में यह एक स्मार्ट सिनेमा है। इसमें पुराने दौर की स्थूलता और सतहीपन नहीं है। इसके किरदार अपनी नाटकीयता भी एक सहजता के साथ अर्जित करते हैं। कई बार इसने बड़ी कामयाबी के साथ कारोबार और कला के बीच ज़रूरी तालमेल बिठाया है। अगर इक्कीसवीं सदी की फिल्मों पर एक नज़र डालें तो '3 इडियट्स', 'पीपली लाइव', 'मुन्नाभाई एमबीबीएस', 'लगे रहो मुन्नाभाई', 'रंग दे बसंती', 'इकबाल', 'गैंग्स ऑफ वासेपुर', 'जब वी मेट', 'ज़िंदगी ना मिलेगी दोबारा', 'चक दे इंडिया', 'ओंकारा', 'तनु वेड्स मनु', 'बैंड बाजा बारात', 'पान सिंह तोमर', 'कहानी', 'बर्फी' और ऐसी कई फिल्मों के नाम अचानक याद आते हैं जिन्हें खूब पसंद किया गया है।

इनमें से कुछ फिल्मों अपनी सामाजिक सोद्देश्यता के लिए भी सराही गई हैं। खासकर

'पीपली लाइव', '3 इडियट्स' और 'लगे रहो मुन्नाभाई' में लोगों ने अपने ढंग से एक गंभीर संदेश देखा। कई फिल्मों अपने ठोस यथार्थवाद की वजह से पसंद की गईं। 'गैंग्स ऑफ वासेपुर', 'पीपली लाइव' या ऐसी और भी फिल्मों में हैं जहां कला की बारीक समझ ने फिल्मों को एक गहराई दी। कुछ फिल्मों अपने कथ्य के नएपन और सधेपन की वजह से सराही गईं। 'जब वी मेट', 'खोसला का घोसला', 'तनु वेड्स मनु', 'सात खून माफ़', 'बैंड बाजा बारात' इस तरह की फिल्मों रहीं।

यह सूची और बड़ी की जा सकती है, ये खूबियां और भी गिनाई जा सकती हैं। कुल मिलाकर, यह दिखता है कि इक्कीसवीं सदी का हिंदी सिनेमा अपने पूर्ववर्ती सिनेमा के मुकाबले कहीं ज्यादा समृद्ध और श्रेष्ठ हुआ है। हीरो-हीरोइन और विलेन के बीच प्रेम और बदले की पुरानी जानी-पहचानी कहानी पीछे छूट गई है और अब नए कथानक नए किरदारों के साथ सामने आ रहे हैं। दरअसल ध्यान से देखें तो एक तरह का आधुनिक मिज़ाज इन फिल्मों ने अर्जित किया है जो देसी कम, ग्लोबल ज्यादा है। इस मिज़ाज में कुछ अच्छी बातें भी हैं। एक अच्छी बात यह है कि स्त्रियों के बने हुए स्टीरियोटाइप कई फिल्मों में टूटे हैं। पहले की तरह सती सावित्री या दिखावटी आधुनिक होने की जगह अब वे ज्यादा हाड़मांस की हैं। उनमें बराबरी का एहसास भी कहीं ज्यादा है।

दूसरी अच्छी बात यह है कि कई फिल्मों के नायक पुराने दौर के महानायकों जैसे नहीं हैं- वे बिल्कुल आम लोग हैं जिनमें कुछ कमजोरियां भी हैं लेकिन जो अपनी कमजोरियों

प्रियदर्शन वरिष्ठ पत्रकार एवं लेखक हैं।
पता ई-4, जनसत्ता सोसायटी, सेक्टर 9, वसुंधरा, गाजियाबाद (उ.प्र.)
फोन 09811901398

के पार जाने की कोशिश कर रहे हैं। तीसरी बात यह है कि इस सिनेमा ने जनजीवन के उन पहलुओं को छुआ है जो पहले अछूते रह जाते थे। 'पान सिंह तोमर' की कहानी इतने विश्वनसीय ढंग से इसी दौर में कही जा सकती थी। इसी तरह 'बर्फी' या 'विकी डोनर' जैसी दिलचस्प फिल्मों शायद पहले नहीं बन सकती थीं। सच तो यह है कि सलमान खान की 'वांटेड', 'दबंग' या 'बॉडीगार्ड' जैसी फिल्मों के बावजूद और आमिर खान और शाहरुख खान जैसे सितारों की उपस्थिति के बाद भी मुख्यधारा के हिंदी सिनेमा का संसार पहले से बड़ा और विविध हुआ है।

लेकिन फिल्मों के इस बदलते संसार पर अब एक दूसरे ढंग से भी नज़र डालें। यह साफ नज़र आता है कि ये फिल्मों उदारीकरण के दौर में बनी नई मल्टीप्लेक्स संस्कृति की संतान हैं जिन्हें उन दर्शकों के लिए बनाया जा रहा है जो नई किस्म की नौकरियों और नए मिलते पैसों के साथ मनोरंजन की ऐसी खुराक की तलाश में हैं जो उनकी छुट्टियों के बीच फिल्म देखने के अनुभव को पारिवारिक पिकनिक में बदल सके। इतिहास से यह वह वर्ग है जिसकी सारी प्रेरणाएं पश्चिम से आती हैं और जिसके पास अपनी कोई सांस्कृतिक विरासत और स्मृति नहीं है। स्मृति अगर है भी तो उन फिल्मों और गानों की जिन्हें वह पुरानी वर्जनाओं के बीच देखने की हिम्मत नहीं कर पाता था। इसलिए यह अनायास नहीं है कि इन दिनों जो फिल्मों बन रही हैं उनमें हास्य प्रधान चुटौली फिल्मों की तादाद बहुत बढ़ी है।

इसके अलावा बहुत सारी पुरानी फिल्मों के रीमेक बन रहे हैं। 'डॉन' या 'अग्निपथ' इसके नए उदाहरण हैं। तीसरी बात यह कि सुरुचि या सुसंस्कृति को लेकर चूँकि कोई बहस या आग्रह इस समाज में बचा नहीं है, इसलिए हर फिल्म में एक आइटम डांस है जिसमें कहीं मुन्नी बदनाम हो रही है, कहीं शीला जवान हो रही है। दरअसल इन फिल्मों को देखते हुए ही खयाल आता है कि सिंगल स्क्रीन के चवत्री छाप दर्शक भले किनारे कर दिए गए हों। लेकिन वह चवत्रीछाप मानसिकता अब भी बची हुई है जो चाव से इन सबका लुप्त लेती है।

इसी नई संस्कृति का असर है कि इन दिनों बनी ढेर सारी फिल्मों की पृष्ठभूमि ग्लोबल है। यहां डॉन भी आता है तो कई देशों में खेल करता हुआ आता है। कई फिल्मों की पूरी की पूरी कहानी लंदन या न्यूयॉर्क में घटित हो रही है। 'माई नेम इज़ खान', 'लंदन ड्रीम्स', 'पटियाला हाउस',

'अनजाना-अनजानी' और ऐसी ढेर सारी फिल्मों याद दिलाती हैं कि फिल्मकारों की नज़र उन प्रवासी भारतीयों पर भी है जिनकी संख्या इन वर्षों में विदेशों में काफी बढ़ी है। यही नहीं, पहले हिंदी फिल्मों में भोजपुरी या पुरबिया बोली का जितना इस्तेमाल होता था, वह काफी कम हो चुका है और उसकी जगह गुजराती और पंजाबी नृत्य-संगीत और खानपान हावी दिखाई देते हैं।

जाहिर है, अब इन फिल्मों के नायक छोटे लोग नहीं हुआ करते। कभी कोई रिक्शा वाला, तांगेवाला, कोई मजदूर या साइकिल चलाने वाला हीरो हो सकता था। यह हीरो कभी-कभी भूख और गरीबी से संघर्ष कर रहा हो सकता था। लेकिन आज यह संभव नहीं है। नए दौर के हीरो नई बाइक्स या गाड़ियों में ही दिखते हैं। उनके संघर्ष भी बिल्कुल बुनियादी जरूरतों के संघर्ष नहीं हैं। जहां वे संघर्ष कर रहे हैं, वहां भी उनकी लड़ाई ज्यादा से ज्यादा पैसा कमाने और बड़ा आदमी बनने की है। साफ है कि पैसों की आपाधापी ने बाकी मूल्यों को पीछे छोड़ दिया है। इन फिल्मों की पूरी वर्गीय चेतना ही बदली हुई है। अब इन दिनों बनी ऐसी कोई फिल्म आसानी से याद नहीं आती जिसमें अमीरी और गरीबी का कोई द्वंद्व हो। पहले वह था, भले ही सपाट ढंग से अमीर लड़की और गरीब लड़के की प्रेमकहानी में। अब अमीर लड़की तो क्या, गरीब लड़की भी अमीर लड़के का ही सपना देखती है।

इसका एक नतीजा यह भी है कि अब सामाजिक संघर्षों और प्रगतिशील मूल्यों वाली वे फिल्मों नहीं दिखतीं जिन्हें कभी राज कपूर से लेकर दिलीप कुमार और बाद में अमिताभ बच्चन तक की फिल्मों में अपनी बहुत सारी नाटकीयता और सीमाओं के बावजूद देखा जा सकता था। पचास के दशक में बनी फिल्म 'आदमी' में दिलीप कुमार अपने द्वंद्व से लड़ता है और अपने दोस्त मनोज कुमार की जान लेते-लेते रह जाता है। अंततः उसकी आदमीयत उसे लौटा लेती है। लेकिन नब्बे के दशक का शाहरुख खान फिल्म 'अंजाम' में माधुरी दीक्षित को हासिल करने के लिए उसके पति की हत्या करने से भी नहीं हिचकता। 1975 में बनी फिल्म 'दीवार' में अमिताभ बच्चन अपने लिए गुंडों से नहीं लड़ता। जब वह एक दूसरे शख्स के प्रतिरोध का हथ्र देखता है तो तय करता है कि 'अगले हफ्ते एक और कुली इन मवालियों को पैसा देने से इनकार करने वाला है।' इस अमिताभ बच्चन के साथ एक मां और एक भाई है जो उसे सही रास्ते की याद दिलाते रहते हैं। इस नायक के लिए

अपराध एक सामाजिक मजबूरी है।

लेकिन नब्बे का दशक आते-आते सामाजिक मजबूरियों की ये कहानियां निजी प्रतिशोध की कथाओं में बदल जाती हैं और हिंसा मजबूरी नहीं, नायक की मानसिकता बनती लगती है। अब दुश्मन को तड़पा-तड़पा कर मारना है। अब नायक के साथ वे मां और भाई नहीं बचे हैं जो उसे रास्ता दिखाएं। बहनें और भाभियां तो न जाने कहां छूट गईं। 1975 में बनी शोले कभी बड़ी हिंसक फिल्म मानी जाती थी, आज फिल्मों की हिंसा देखते हुए वह एक मासूम सी फिल्म जान पड़ती है।

तो ध्यान से देखें तो इस दौर की बहुत सारी अच्छी फिल्में आम हिंदुस्तान की फिल्में नहीं हैं। वे नए बन रहे इंडिया की फिल्में हैं। इन फिल्मों में जितना देशज स्पर्श है, उतना ही अंग्रेजी का इस्तेमाल भी बढ़ा है। इस दौर की ढेर सारी फिल्मों के नाम अंग्रेजी में रखे जा रहे हैं। लिखित हिंदी को लेकर इन फिल्मों में घोर उपेक्षा का भाव दिखता है। 'नोवन किल्ड जेसिका' में हिंदी सबटाइटिल्स इतने अशुद्ध ढंग से लिखे गए हैं कि

फिल्म देखते हुए कोफ़्त होती है।

तो फिल्में रंगीन, चटख और बेहतर हुई हैं, नई तकनीक के इस्तेमाल ने उन्हें नए आयाम दिए हैं, लेकिन भारतीय समाज के वास्तविक द्वंद्वों और यहां की प्रेरणाओं से वे कोसों दूर हैं। हिंदी का बड़ा बाजार फिल्मकारों को मजबूर करता है कि वे हिंदी में फिल्में बनाएं, अपनी पेशेवर समझ से वे इस समाज के कई अलग-अलग पहलुओं का कायदे से चित्रण भी कर पाते हैं, लेकिन अंततः यह सिनेमा जनता का नहीं है, न ही जनता के काम आने वाला है। अनुराग बासु की फिल्म बर्फी दरअसल इस नए दौर की प्रतिनिधि फिल्म कही जा सकती है जो एक मार्मिक फिल्म बन पड़ी है लेकिन जिसमें बहुत सारी पुरानी विदेशी फिल्मों के दृश्य ज्यों के त्यों उठा लिए गए हैं। बाद में अनुराग बासु ने शायद सफाई दी कि यह सिनेमा के उस्तादों को उनका 'ट्रिब्यूट' था, लेकिन यह नहीं बताया कि इन उस्तादों में उन्हें एक भी भारतीय फिल्मकार नज़र क्यों नहीं आया। जाहिर है, यह बाहर का सिनेमा है जो बाहर की नकल पर हिंदी में बन रहा है।

वार्ता का बढ़ता परिवार

सामयिक वार्ता के ग्राहकों और पाठकों की संख्या में लगातार बढ़ोतरी हो रही है। विगत सितंबर 2012 से लेकर अप्रैल 2013 के मध्य तक 461 नए वार्षिक ग्राहक, 49 नए पांच साला ग्राहक और 23 नए आजीवन ग्राहक बने हैं। कुल मिलाकर 533 नए ग्राहक बने हैं। करीब साढ़े पांच सौ ग्राहक पहले से थे। इनके अलावा देश भर में करीब 30 साथियों को 400 प्रतियां बंडल के रूप में जाती हैं। फुटकर बिक्री भी कुछ होती है। अभी दो हजार प्रतियां छप रही हैं।

छोटे महानगरों, मध्यम व छोटे शहरों और कस्बों से खासतौर पर ग्राहकी आ रही है। विचारों, विश्लेषण और जानकारी की एक भूख हिंदी पाठकों में दिखाई दे रही है जिसे सामयिक वार्ता पूरा करने की कोशिश कर रही है।

इससे हमारा उत्साह बढ़ा है। लेकिन हमारा मानना है कि हिंदी का विशाल इलाका देखते हुए यह संख्या बहुत कम है। अपनी ग्राहक संख्या को पांच हजार तक पहुंचाने का लक्ष्य हमने रखा है।

क्या इस लक्ष्य को पूरा करने में आप हमारी मदद करेंगे?

सामयिक वार्ता पत्रिका नहीं, एक वैचारिक आंदोलन है। इस आंदोलन में आप भी जुड़ें।

प्रबंधक

कैसा भोजन पसंद करेंगे जनाब

सुनीता नारायण

हम जो खाते हैं,
वह कितना
सुरक्षित है, इस
चिंता में
पारंपरिक
मिलावट के
अलावा कई दूसरे
आयाम जुड़ गए
हैं। अंततः इसका
रिश्ता आधुनिक
सभ्यता के
विकास के मॉडल
से है।
मशहूर
पर्यावरणविद
सुनीता नारायण
दिल्ली स्थित
विज्ञान एवं
पर्यावरण केन्द्र
की निदेशक और
डाउन टू अर्थ
पत्रिका की
संपादक हैं।
इस लेख का
अंग्रेजी से
अनुवाद सुशील
जोशी ने किया है।

पता:-
विज्ञान एवं पर्यावरण
केन्द्र 41,
तुंगलकाबाद इंस्टिट्यूशनल
एरिया नई दिल्ली -
110062

मेरा स्थानीय सब्जीवाला पोलीथीन की थैलियों में नींबू पैक करके बेचता है। मैं सोचने लगी कि क्या यह खाद्य सुरक्षा और स्वच्छता के बेहतर मानकों का द्योतक है। आखिर हम जब प्रोसेस्ड फूड की अमीर दुनिया के किसी सुपरमार्केट में जाते हैं, तो नज़र आता है कि सारे खाद्य पदार्थ सफाई से पैक किए गए हैं ताकि मनुष्य के हाथ लगने से कोई गंदगी न हो। फिर खाद्य निरीक्षकों की पूरी फौज होती है, जो प्रोसेसिंग कारखाने से लेकर रेस्टॉरेंट में परोसे जाने तक हर चीज़ की जांच करती है। उसूल साफ है: खाद्य सुरक्षा के प्रति जितनी ज़्यादा चिंता होगी, क्वालिटी भी उतनी ही अच्छी होगी और परिणाम यह होगा कि इसे लागू करने की कीमत भी उतनी ही ज़्यादा होगी। धीरे-धीरे, मगर निश्चित रूप से, छोटे उत्पादक बाहर धकेल दिए जाते हैं। भोजन का कारोबार ऐसे ही चलता है।

मगर क्या सुरक्षित भोजन का यह मॉडल भारत के लिए ठीक है? यह तो पक्की बात है कि हमें सुरक्षित भोजन चाहिए। यह भी साफ है कि हम छोटे उत्पादकों की आड़ में यह नहीं कह सकते कि हमें क्वालिटी और सुरक्षा के सख्त मापदंड नहीं रखने चाहिए। हम यह दलील भी नहीं दे सकते कि हम तो एक गरीब विकासशील देश हैं और हमारी ज़रूरत तो ज़्यादा मात्रा में खाद्यान्न पैदा करना और उसे कुपोषित लोगों की बड़ी संख्या तक पहुंचाना है। हम ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि चाहे हम गरीब हों और ज़्यादा से ज़्यादा खाद्यान्न पैदा करने और उसे ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक पहुंचाने के दबाव में हों, मगर हम इस तथ्य को अनदेखा नहीं कर सकते कि हम

खराब भोजन खा रहे हैं जो हमें बीमार कर रहा है। हम कई सारे दोहरे बोझ ढोते हैं। यह उनमें से एक है।

दूसरे दोहरे बोझ का सम्बंध 'असुरक्षित' भोजन की प्रकृति से है। सबसे घातक समस्या मिलावट की है - जब लोग मुनाफे के लिए भोजन में खराब चीज़ें मिलाते हैं। भारत में यूरिया मिला दूध और रसायनों से रंगी लाल मिर्च तो समस्या का एक छोटा-सा अंश है। हमें पता है कि इसके खिलाफ कारगर कार्रवाई की ज़रूरत है। मगर यह भी सच है कि ऐसी घटनाएं भारत में ही नहीं होतीं। कुछ वर्षों पहले चीन में मिलेमीन-दूषित दूध ने बच्चों की जानें ली थी। आजकल गौमांस के नाम पर बेचा जा रहा घोड़े का मांस यूरोप को झकझोर रहा है। हमारे शरीर और सेहत से जुड़े इस कारोबार में कदाचारी लोग शामिल हैं।

चिंता का दूसरा विषय है प्रोसेसिंग के दौरान भोजन में मिलाई जाने वाली चीज़ों का सुरक्षित होना। यह मिलावट नहीं है क्योंकि यहां जो चीज़ें मिलाई जाती हैं उन्हें मिलाने की अनुमति है। सवाल यह है कि क्या हम इन चीज़ों के अन्य दुष्प्रभाव के बारे में जानते हैं? सामान्यतः होता यह है कि विज्ञान इन समस्याओं का पता काफी देर से लगाता है। मसलन, कृत्रिम मीठे पदार्थों को लेकर काफी हो-हल्ला हुआ है। इनमें पहले सेकरीन था और फिर एस्पार्टेम आया। औद्योगिक स्तर पर उत्पादित भोजन में एक समस्या यह भी है कि हरेक वस्तु को निहित स्वार्थों का समर्थन मिलता है। ये निहित स्वार्थ उस चीज़ को तब तक सुरक्षित बताते हैं, जब तक कि उसकी असुरक्षा साबित न हो जाए।

अक्सर हमें हमारे खाद्य पदार्थों में मिलाए गए तत्वों के बारे में ज्यादा पता नहीं होता। जैसे, हम वैनीला यह सोचकर खाते हैं कि आइसक्रीम और केक को सुगंधित करता यह पदार्थ मसालों का असली सम्राट है। हमें पता ही नहीं होता कि अधिकांश वैनीला कृत्रिम रूप से बनाया जाता है और यह रसायन, आप मानें या न मानें, कागज कारखानों के कचरे या कोलतार के घटकों से बनाया जाता है। यह सस्ता होता है और विभिन्न देशों के खाद्य व औषधि प्रशासन ने इसे मानव उपभोग के लिए स्वीकृत किया है।

तीसरी चुनौती हमारे भोजन में विष की है। ये वे रसायन हैं जो खाद्यान्न उपजाने और प्रसंस्करण के दौरान उपयोग किए जाते हैं। बहुत कम मात्रा में भी ये अस्वीकार्य जहर हैं।

भोजन के माध्यम से कीटनाशकों से संपर्क कई जीर्ण बीमारियों को जन्म देता है। सबसे बढ़िया तरीका तो यह होगा कि हम अपनी थाली को देखें - यह हिसाब लगाएं कि हम क्या और कितना खा रहे हैं - ताकि यह पक्का कर सकें कि कीटनाशकों की सुरक्षित सीमा निर्धारित की जा सके। पोषण प्राप्त करने के लिए हमें थोड़ा जहर तो निगलना होगा मगर इसे स्वीकार्य सीमा में कैसे रखा जा सकता है? इसका मतलब है कि सारे खाद्य पदार्थों के लिए कीटनाशकों के सुरक्षित स्तर के मानक तय करने होंगे।

इसके बाद कुछ विष ऐसे हैं, जो भोजन में कदापि नहीं होने चाहिए। उदाहरण के लिए, कुछ वर्षों पहले विज्ञान व पर्यावरण केंद्र (सीएसई) ने पाया था कि भारत के बाजार में मिलने वाले शहद में एंटीबायोटिक औषधियां हैं। कारण यह है कि भारत में औद्योगिक मधुमक्खी पालक मधुमक्खियों को एंटीबायोटिक दवाएं खिलाते हैं - उनकी

वृद्धि को बढ़ाने और बीमारियों पर नियंत्रण के लिए। एंटीबायोटिक्स का सेवन हमें दवाइयों का प्रतिरोधी बनाता है। सीएसई ने कोशिश करके घरेलू बाजार में शहद के लिए एंटीबायोटिक मापदंड तैयार करवाए। इसमें कोई संदेह नहीं कि छोटे-छोटे शहद उत्पादकों पर इसका प्रतिकूल असर पड़ेगा क्योंकि उनके पास कागजी कार्रवाई और निरीक्षकों को संभालने की क्षमता नहीं है। मगर इसका मतलब यह नहीं हो सकता कि हम अपने भोजन में एंटीबायोटिक के इस्तेमाल को बर्दाश्त करते रहें। या क्या इसका मतलब यह है कि हम खाद्य कारोबार में इस तरह के बदलाव करें कि भोजन सुरक्षित भी रहे और जीविकाओं पर आंच भी न आए?

भोजन संबंधी चौथी चुनौती शायद इस सवाल का जवाब दे देगी। भोजन न सिर्फ सुरक्षित होना चाहिए, बल्कि पौष्टिक भी होना चाहिए। आजकल दुनिया में भोजन का चेतावनी तंत्र जंक फूड (कचरा खाद्य)के मामले में सक्रिय हो चला है - जंक फूड यानी ऐसा भोजन जिसमें खाली कैलोरियां हैं और जो सेहत के लिए खराब है। इस बात के काफी प्रमाण हैं कि खराब भोजन का सीधा संबंध गैर-संक्रामक बीमारियों (जैसे मधुमेह, दिल की बीमारी, कैंसर) में विस्फोट से है। बहुत हो चुका, कहने का वक्त बहुत पहले आ चुका है।

सवालों के जवाब खाद्य कारोबार के एक अलग मॉडल के बारे में सोचकर मिलेंगे। यह मॉडल सबके लिए एक जैसे औद्योगिक उत्पादन का मॉडल तो नहीं हो सकता। नया मॉडल पोषण, आजीविका और सुरक्षा के सामाजिक उद्देश्यों को मुनाफे से ऊपर रखने पर आधारित होना चाहिए। यदि हम इस बात को सही समझ जाएं, तो सही भोजन खाएंगे।

वार्ता के पुराने अंक

इटारसी से सामयिक वार्ता के चार अंक प्रकाशित हो चुके हैं। यह पांचवा अंक है। कुछ साथियों ने इन अंकों की मांग की है। पहला अंक सीमित संख्या में है, बाकी अंकों की प्रतियां पर्याप्त संख्या में हैं। यदि आपको ये अंक चाहिए तो हम डाक से भेज सकेंगे। एक अंक का मूल्य 20 रुपए है। साधारण डाक से मंगाने के लिए 10 रुपए और रजिस्टर्ड डाक के लिए 20 रुपए आपको जोड़ना पड़ेंगे। इस राशि को आप चाहे तो डाक टिकिटों के रूप में भी हमें भेज सकते हैं। मनीऑर्डर करें तो पूरा पता अलग से जरूर भेज दें। बैंक भेजें या बैंक ट्रांसफर करें तो दस रुपए जोड़ दें।

लातीनी अमरीका अंक

लातीनी अमरीका पर विशेष सामग्री होने के कारण इस अंक की ज्यादा प्रतियां छपवाई गई हैं। दस या ज्यादा प्रतियां मंगवाने पर 20 फीसदी छूट दी जाएगी और साधारण डाक खर्च हम वहन करेंगे। किंतु रजिस्टर्ड डाक का शुल्क आपको भेजना होगा। कृपया पूरी राशि हमें अग्रिम भेज दे तो सुविधा होगी।

प्रबंधक 09993737039

बैगाओं की बेंवर खेती

बाबा मायाराम

मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ में बसे बैगा आदिवासियों की बेंवर खेती में हल नहीं चलता है। झाड़ियों और छोटे पौधों को जलाकर उसकी राख में फसल पनपती है। वन विभाग नुकसानदेह बताता है लेकिन पर्यावरण और जंगलों के साथ इसका तालमेल हजारों बरसों से बना है।

बाबा मायाराम
स्वतंत्र पत्रकार हैं।
फोन:
09424437330
babamayaram@
gmail.com

जिस तरह से बैगा आदिवासी तीज-त्योहार व उत्सवों पर रंग-बिरंगी पोशाकों में आकर्षित करते हैं वैसे ही उनकी अनोखी बेंवर खेती मोहित करती है। रंग-बिरंगे छोटे-बड़े दानों वाले देशी बीज, खेत में लहलहाती हरी-भरी फसलें, मोतियों से दाने वाले चमकीले भुट्टे, भरी बालियां और झुमके सी लटकती फलियां। अगर कवि दृष्टि से देखें तो निहारते ही रहो। बहुत ही मनमोहक दृश्य। अपूर्व सौंदर्य से भरपूर इस अनूठी खेती का खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य सुरक्षा जैव विविधता, मौसम बदलाव, पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि से काफी महत्व है।

मध्यप्रदेश के डिंडौरी जिले के बैगा आदिवासी पीढ़ियों से बेंवर झूम खेती करते आ रहे हैं। सतपुड़ा की मैकल पहाड़ियों में बसे और आदिम जनजाति में शुमार बैगा आदिवासियों का जंगल से गहरा लगाव है। उनकी आजीविका व जीवनशैली जंगल आधारित है। जंगल से जड़ी-बूटी एकत्र करना, वनोपज एकत्र करना और बेंवर खेती उनकी जीविका के साधन हैं।

इस बेंवर खेती में न केवल खाद्य सुरक्षा व भोजन के लिए जरूरी पोषक तत्व मौजूद हैं बल्कि जलवायु बदलाव से होने वाले नुकसानों से बचाने की क्षमता भी है। मिट्टी-पानी के संरक्षण के साथ इससे जैव विविधता समृद्ध होती है व पर्यावरण का संरक्षण होता है। यह पूरी तरह प्राकृतिक, जैविक व पर्यावरण के अनुकूल है।

बेंवर खेती बिना जुताई की जाती है। ऐसी मान्यता है कि हल से धरती मां की छाती पर घाव होगा और उसे पीड़ा

होगी। ग्रीष्म ऋतु में पेड़ों की छोटी-छोटी टहनियों, पत्ते, घास और छोटी झाड़ियों को एकत्र कर उनमें आग लगा दी जाती है और फिर उसकी राख की पतली परत पर बीजों को बिखेर दिया जाता है जब बारिश होती है तो उन बीजों में अंकुर आ जाते हैं। धीरे-धीरे उगे पौधे बड़े होते हैं और फसलें लहलहा जाती हैं। धरती मां की इस फसल को देखकर किसी भी किसान का दिल उछल सकता है।

एक जगह पर एक वर्ष में खेती की जाती है। अगले साल दूसरी जगह पर खेती होती है। इस खेती को स्थानांतरित खेती (शिफ्टिंग कल्टीवेशन) कहते हैं। हालांकि इस खेती पर प्रतिबंध लगा हुआ है। लेकिन मध्यप्रदेश के बैगाचक इलाके में यह प्रचलन में है। अब स्थान की कमी के कारण एक ही खेत को तीन साल तक बोने लगे हैं। फिर तीन साल दूसरे को और तीन साल तीसरे खेत में खेती करते हैं। और ऐसे 9 साल बाद फिर उसी खेत में आ जाते हैं जिसमें पहले खेती की थी।

कोदो, कुटकी, ज्वार, सलहार (बाजरा) मक्का, सांवा, कांग, कुरथी, राहर, उड़द, कुरेली, बरबटी, तिली जैसे अनाज बेंवर खेती में बोये जाते हैं। इसमें 16 प्रकार के अनाज को बैगा बोते हैं। इन 16 अनाजों की 56 किस्में हैं।

चूंकि इस खेती में बैलों का उपयोग नहीं है। इसलिए ज्यादातर काम हाथ से करना होता है। और खेती का अधिकांश काम महिलाएं करती हैं। वे खेत तैयार करना, बोवनी, निंदाई-गुड़ाई, कटाई और बीजों का भंडारण

करना आदि काम करती हैं। इसके अलावा, वे ही पैरों से या लकड़ी से अनाज को कूटती हैं। ओखली में कूटकर उसके छिलके निकालती हैं और भोजन पकाकर सबको खिलाती हैं।

बेंवर पर अध्ययन करने वाले नरेश विश्वास कहते हैं कि यह खेती जैविक, पर्यावरण के अनुकूल और मिश्रित है। यह सुरक्षित खेती भी है। चूंकि इसमें मिश्रित खेती होती है अगर एक फसल मार खा गई तो दूसरी से इसकी पूर्ति हो जाती है। इसमें कीट प्रकोप का खतरा भी नहीं रहता। इसमें रासायनिक खाद की जरूरत नहीं होती।

यह खेती संयुक्त परिवार की तरह है। एक फसल दूसरी की प्रतिस्पर्धी नहीं है बल्कि उनमें सहकार है। एक से दूसरी को मदद मिलती है। मक्के के बड़े पौधे कुलथी को हवा से गिरने से बचाते हैं। फल्लीवाले पौधों के पत्तों से नत्रजन मिलती है। कुछ अनाजों को बीमारी व बच्चे जन्मने पर महिलाओं को खिलाया जाता है। यानी ये अनाज बीमारी में उपचार के काम में आते हैं।

इन अनाजों में शरीर के लिए जरूरी सभी पोषक तत्व होते हैं। रेशे, लौह तत्व, कैल्शियम, विटामिन, प्रोटीन व अन्य खनिज तत्व मौजूद हैं। चावल व गेहूँ के मुकाबले इनमें पौष्टिकता अधिक होती है। हरित क्रांति के बाद इन अनाजों में हम फिसड्डी हो गए हैं।

इससे दाल, चावल, पेज (सूप की तरह पेय), दाल, सब्जी सब कुछ मिलता है। कुछ ऐसी भी उपज मिलती है जैसे-बैगनी राहर। इस राहर का बाजार में दाम महंगा होता है। पेज कोदो व मक्का का पेय होता है जिसमें स्वाद के लिए नमक डाल दिया जाता है। यह गरीबों का भोजन होता है। कम अनाज और पानी ज्यादा। मेहमान आ गए तो उतने ही अनाज में पानी की मात्रा बढ़ा दी जाती है।

बेंवर खेती के अलावा गैर खेती भोजन भी बैगाओं की खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करती है। कंद-मूल, सब्जी-भाजी, फल-फूल, पत्ते, मशरूम, मछली व केकड़े आदि भी इन्हें जंगल व नदियों से मिलते हैं। कंद-मूल में

कनिहाकांदा, डोनचीकांदा, कडुगीठकांदा, बैचांदीकांदा, लोडंगीकांदा, सैदूकांदा आदि हैं। अध्ययनकर्ता विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी ने बैगाओं के 26 प्रकार के अनाज, 28 कंद-मूल, 48 सब्जियां व भाजियां, 45 फल, 21 मशरूम आदि की सूची बनाई है।

बेंवर से खाद्य सुरक्षा बनी रहती है। एक के बाद एक फसल पकती जाती है और उसे काटकर भोजन के रूप में इस्तेमाल करते हैं। सबसे पहले भादो के महीने में कांग की फसल आ जाती है और कार्तिक तक सभी फसलें पक जाती हैं।

अध्ययन बताते हैं कि बेंवर खेती से जंगल को नुकसान नहीं पहुंचता है। इसमें बड़े पेड़ों को नहीं जलाया जाता। बल्कि इससे जैव विविधता कायम रहती है, जो कार्बन उत्सर्जन के नुकसान को नियंत्रित करती है। जलवायु बदलाव के नुकसान को रोकने में बिना जुताई और वृक्ष खेती की वकालत की जाती है जो कि इसमें मौजूद ही है।

मौसमी बदलाव के कारण जो समस्याएं और चुनौतियां आएंगी, उनसे निपटने में भी यह खेती कारगर है। कम बारिश, ज्यादा गर्मी, पानी की कमी और कुपोषण बढ़ने जैसी स्थिति में बेंवर खेती सबसे उपयुक्त है। इस खेती पर कितना लिखने वाले नरेश विश्वास का कहना है कि जिस तरह अंग्रेजों ने बैगाचक में बेंवर खेती

को छूट दी थी पर बाद में इस पर प्रतिबंध लगा दिया। अब इस पर प्रतिबंध हटा लेना चाहिए, यह सभी दृष्टियों से उपयोगी होगा।

इस खेती में मौसमी उतार-चढ़ाव व पर्यावरण के अनुकूल हालत को झेलने की क्षमता होती है और मिट्टी की उर्वरक क्षमता भी बनी रहती है। इस प्रकार खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य सुरक्षा, जैव विविधता और मौसम बदलाव यह सभी दृष्टियों से उपयोगी और स्वावलंबी है। इसलिए हमें मिट्टी-पानी की संरक्षण वाली इस अनोखी जैविक खेती की ओर बढ़ना चाहिए।

शाहबाग का युवा विद्रोह

बांग्लादेश काफी उथल-पुथल से गुजर रहा है। शाहबाग आंदोलन को लेकर कोलकाता की लघु पत्रिकाओं ने संयुक्त रूप से एक अपील जारी है।

अपील में शामिल पत्रिकाएं: तबू बांगलार मुख, अलीक, ससाह, जलार्क, जनपथ, मंथन, एकक मात्रा, रविशस्थ पत्रिका, नया बांग्लाउद्योग, भाषा-संस्कृति स्वाधिकार मंच, लिट्ल मैगजीन समन्वय मंच, फ्रेंड्स आफ डेमोक्रेसी और कलिकाता लिट्ल मैगजीन लाईब्रेरी व गवेषणा केंद्र।

इस अपील का बांग्ला से अनुवाद अशोक सेकसरिया ने किया है।

हर साल जब 21 फरवरी का दिन आता है तब उसे मनाते वक्त हमें अपनी मातृभाषा की दीनता का अहसास होता है और मन हाहाकार कर उठता है। 21 फरवरी का दिन बांग्ला भाषा के लिए शहीद हुए नौजवानों और स्त्री-पुरुषों को याद करने का ही दिन नहीं है, वह अंतरराष्ट्रीय मातृभाषा दिवस भी है। मातृभाषा जिसके लिए हमें रोज जीवन-समर में लड़ना पड़ता है और जिसे हम नौकरी और रोजगार के दबाव में भूलते जा रहे हैं। लेकिन इस वर्ष 21 फरवरी के दिन ने अपनी मातृभाषा को भूलने और इसे अपमानित होते देखने के ग्लानिबोध से थोड़ी मुक्ति दिलाई, जब ढाका के शाहबाग चौक में बांग्लादेश की नई पीढ़ी के युवक और युवतियों ने रात-रात जागकर अपनी स्वाधीनता और अपने बालिग नागरिक होने की घोषणा की।

इस वर्ष 5 फरवरी को बांग्लादेश के जमाते-इस्लामी नेता अब्दुल कादेर मोल्ला को आजीवन कारावास की सजा दी गई। मोल्ला के खिलाफ मुक्तियुद्ध की कवियत्री मेहरुनिसा, उनकी मां और दो भाइयों सहित बहुत सारे लोगों की हत्या करने का अभियोग था। युद्ध अपराधियों के लिए गठित ट्रिब्युनल में अभियोग के प्रमाणित होने पर उन्हें आजीवन कारावास की सजा दी गई। जमाते इस्लामी ने 5 फरवरी को अपने नेता की सजा के खिलाफ आम हड़ताल का आह्वान किया। इधर सजा की घोषणा के बाद इंटरनेट पर फेसबुक, ट्विटर और ब्लाग आदि पर बहुत सारे युवक-युवतियों ने सजा को बहुत कम ठहराते हुए और ज्यादा कड़ी सजा की मांग करते हुए अपना विरोध प्रकट किया। ब्लागर एंड आनलाइन

एक्टिविस्ट नेटवर्क ने ज्यादा कड़ी सजा की मांग करते हुए प्रतिवाद करने का आह्वान किया। शाम होते-होते ऑनलाइन संपर्क के माध्यम से ढाका के शाहबाग चौक में कम सजा का प्रतिवाद करने के लिए युवक-युवतियों के झुंड इकट्ठा होने लगे। रास्तों पर चित्रों और कार्टूनों के अंकन के साथ कादेर मोल्ला और युद्ध अपराधियों के पुतले जलाकर युवक-युवतियों ने अपना विरोध जताना शुरू किया। रात भर कम सजा दिए जाने का प्रतिवाद चलता रहा। जब लोगों ने यह देखा कि युवक-युवतियों का प्रतिवाद किसी राजनीतिक दल द्वारा आयोजित नहीं है तो हजारों लोग अपने आप प्रतिवाद में शामिल होते चले गए। एक स्वतः स्फूर्त जन समुद्र उमड़ पड़ा।

नई पीढ़ी के युवक-युवतियों का यह जागरण दो वर्ष पहले ट्यूनीशिया, मिस्त्र, स्पेन, इसराइल और अमरीका (वाल स्ट्रीट कब्जा आंदोलन) में शुरू हुआ था। इस जागरण में शामिल युवक-युवतियों का कहना था 'हमारा कोई नेता नहीं है, हमारा कोई प्रतिनिधि नहीं है, हम अपनी बात खुद कहेंगे।' हाल में दिल्ली की एक छात्रा के साथ बलात्कार और उसकी मृत्यु की घटना के बाद देश के तमाम शहरों में, यहां तक कि हमारे शहर कोलकाता में भी, छात्र-छात्राओं और युवक-युवतियों को घटना का प्रतिवाद करने के लिए एकत्रित होते हमने देखा है। ढाका के शाहबाग चौक में नई पीढ़ी ने अपनी स्वाधीनता को पूरे दमखम से व्यक्त किया और उसकी इस अभिव्यक्ति की गूंज सारे बांग्लादेश में ही नहीं विश्व भर में जहां-जहां बंगाली रहते हैं, सुनाई पड़ी।

8 फरवरी को शाहबाग चौक पर बांग्ला

देश की नई पीढ़ी ने एक अभूतपूर्व शपथ ली-

‘हम यह शपथ लेते हैं कि 1971 में सामूहिक हत्याएं और बलात्कार करने जैसे अमानुषिक कार्यकलाप करने की अपराधी जमाते इस्लामी की राजनीति जब तक समाप्त नहीं होगी तब तक हम अपना आंदोलन चलाते जाएंगे। हम शपथ लेते हैं कि युद्ध अपराधियों की नागरिकता रद्द न किए जाने और जमाते इस्लामी की राजनीति पर प्रतिबंध न लगाए जाने तक सड़कों पर और ऑनलाइन पर हम सक्रिय रूप से आंदोलन करते रहेंगे। 1975 के बाद जिन युद्ध अपराधियों को छोड़ दिया गया है, उनके पर युद्ध अपराधों के ट्रिब्यूनल द्वारा फिर से मुकदमा चलाया जाए। हम युद्ध अपराधियों के सारे व्यावसायिक प्रतिष्ठानों, इस्लामी बैंक, इबनेसिना, रेटिना फोकस जैसे अन्य सभी प्रतिष्ठानों का बहिष्कार करेंगे। हम यह जानते हैं कि इन सब प्रतिष्ठानों के माध्यम से पैसे इकट्ठा कर देश की स्वाधीनता का हनन करने का प्रयास किया जाता है। एक वाक्य में कहें तो हम कह रहे हैं कि रजाकार अलबदर की समस्त सामाजिक और व्यवसायिक संस्कृति का बहिष्कार करना हमारा लक्ष्य है और उसे पूरा करने के लिए सक्रिय रूप से काम करते रहेंगे। यही नहीं, हम उन सब प्रतिष्ठानों का, जो छोटे-छोटे बच्चों में सांप्रदायिकता का जहर घोल रहे हैं, बायकाट करेंगे। हम यह भी शपथ लेते हैं कि जिन सब जमायती तत्वों ने राष्ट्रद्रोह जैसा जघन्य अपराध किया है, उन्हें अखबारों, पत्रिकाओं की खबरें पढ़ कर और टीवी पर फुटेज देखकर गिरफ्तार कर अविलंब उन पर मुकदमा चलवाएंगे...’

बांगला देश के युवक और युवतियों की शपथ में देश के भविष्य के प्रति उनकी चिंता प्रकट होती है, तो उसके साथ वर्तमान स्थिति के बारे में क्षोभ भी। क्या यह चिंता और क्षोभ आज सारे भारत, पाकिस्तान और बांगलादेश की नई पीढ़ी में नहीं दिखाई पड़ता? किस तरह भारत, पाकिस्तान और बांगला देश के सामाजिक जीवन को सांप्रदायिकता के नागपाश में जकड़ कर रखा गया है? सिर्फ सांप्रदायिक राजनीतिक दल ही नहीं, दक्षिणपंथी और वामपंथी राजनीतिक दल भी किस प्रकार जाति और धर्म के आधार पर विद्वेष फैलाकर देश की राजनीति को कलुषित कर रहे हैं, यह हम पल-पल अनुभव करते हैं। बांगलादेश में तो आज यह स्थिति इतनी भयंकर बन गई है कि

एनजीओ और अन्य सामाजिक और आर्थिक संगठन सभी सांप्रदायिक और राजनीतिक विद्वेष का इस्तेमाल कर रहे हैं। आज बांगलादेश जिस संकट से गुजर रहा है उसमें जब सारे राजनीति दल सत्ता हथियाने के दलदल में आकंट डूबे हुए हैं, तब बांगलादेश का युवा समाज उठ खड़ा हुआ है। 2008 से ही वह 1971 के युद्ध-अपराधियों पर मुकदमा चलाने और उन्हें सजा दिए जाने की मांग कर रहा है। युवा शक्ति के दबाव के चलते अवामी लीग चुनाव जीतने के लिए अपने चुनाव घोषणापत्र में युवा समाज की इस मांग को शामिल करने के लिए बाध्य हुई थी। हम जानते हैं कि मुक्तियुद्ध के समय करीब दो लाख महिलाओं के साथ बलात्कार हुआ था और उनके गर्भ में बहुत सारे युद्ध शिशुओं का जन्म हुआ। बांगलादेश के मुक्तियुद्ध में शहीद होने वालों की संख्या 30 लाख होने का अनुमान है। युद्ध के समय करीब एक करोड़ शरणार्थियों ने भारत में शरण ली थी। यदि ये लोग भारत में भाग नहीं आते तो वे भी शायद सामूहिक जनसंहार के शिकार होते। इतने बड़े-बड़े अपराध, लेकिन इतने दिनों तक क्यों अपराधियों पर मुकदमा नहीं चलाया गया? युवा समाज को यह असह्य हो उठा और वह खुद आगे बढ़ कर पहल करने को मजबूर हुआ।

हम यह महसूस करते हैं कि हमारी भाषा और संस्कृति के इस संकटापन्न समय में हमारे समाज और हमारे देश को राजनीतिक विपन्नता से मुक्ति दिलाने में हमारी युवा शक्ति हमारा नेतृत्व कर सकती है, हमारा मार्ग दर्शक हो सकती है। आइए, नई पीढ़ी के विद्रोह का स्वागत करें।

पत्रिका नहीं, वैचारिक आंदोलन

सामयिक वार्ता

पढ़ें, पढ़ाएं, ग्राहक बनाएं,
मित्रों को उपहार दें

देश और दुनिया की घटनाओं व हलचलों
को जानने-समझने और विश्लेषण में
मददगार एक पत्रिका

म्यांमार की जातीय हिंसा

रामझे बरोड़

म्यांमार में रोहिंग्या मुसलमानों के विरुद्ध जातीय हिंसा लगातार जारी है, जिससे बड़ी तादाद में उनको पलायन करना पड़ रहा है। बड़े देश और उनकी सरकारें इसे अनदेखा कर रही हैं, क्योंकि वे म्यांमार की प्राकृतिक संपदा का दोहन चाहती हैं। अचरज की बात है कि आंग सान सू भी इस मामले में मौन हैं।

रामझे बरोड़ अंतरराष्ट्रीय स्तंभकार और पेलेस्टाइन क्रॉनिकल डॉट कॉम के संपादक हैं।

यह समझ में नहीं आ रहा है कि आंचलिक एवं अंतरराष्ट्रीय नेता और संगठन म्यांमार (बर्मा) में रोहिंग्या मुसलमानों के विरुद्ध हो रहे हत्याकांड पर विचलित क्यों नहीं हैं। संख्या स्वयं इस बात की गवाह है कि नस्लवादी हत्याकांड एवं अत्याचार बढ़ते ही जा रहे हैं।

इस बीच 'नाव पर सवार' लोगों की नियति में कोई सुधार नहीं आया है। फरवरी के अंत में मल्लुआरों ने इंडोनेशिया के उत्तरी प्रांत एसीह में समुद्र में तैरती लकड़ी की नाव देखी। एसोसिएटेड प्रेस एवं मीडिया के अन्य सूत्रों ने बताया कि इस नाव में कुल 121 व्यक्ति थे, जिनमें बच्चे और महिलाएं शामिल थे। वे अत्यंत कमजोर, भूखमरी और निर्जलीकरण से पीड़ित दिखाई दे रहे थे। ये सब रोहिंग्या मुस्लिम थे, जिन्होंने म्यांमार में रहने के बजाए स्वयं को समुद्र के भरोसे छोड़ देना अधिक सुरक्षित समझा। इससे सहज ही समझा जा सकता है कि उस देश की आंतरिक स्थिति कैसी है।

जकार्ता से वायस ऑफ अमेरिका की रिपोर्ट में बताया गया है कि अराकान राज्य में हुई सांप्रदायिक हिंसा के परिणामस्वरूप सैकड़ों रोहिंग्या मुसलमान मारे गए, हजारों घरों को आग के हवाले कर दिया गया और करीब 1,15,000 विस्थापित हो गए हैं। भागने वाले अनेक लोग समुद्र में ही समा गए। नावों के डूब जाने से परिवारों के बिछुड़ने की दर्दनाक कहानियां भी बड़ी संख्या में सामने आ रही हैं। ऐसे भी दस्तावेज उपलब्ध हैं जिनमें थाइलैंड, इंडोनेशिया, बांग्लादेश एवं अन्य स्थानों तक अपने साहस से पहुंचे इन

शरणार्थियों को वहां की पुलिस ने पुनः समुद्र में खदेड़ दिया। संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी एजेंसी ने बताया है कि करीब 13,000 रोहिंग्या शरणार्थियों ने 2012 में तस्करों की नावों से बंगाल की खाड़ी के रास्ते म्यांमार छोड़ने का प्रयास किया था उनमें से कम से कम पांच सौ डूब गए।

रोहिंग्या कौन हैं

म्यांमार के अधिकारी और मीडियाकर्मी रोहिंग्या लोगों को 'अवैध बंगाली प्रवासी' कहते हैं। इस गलत वर्गीकरण का उद्देश्य है रोहिंग्या जनसमुदाय को बलात् देश निकाला देना। गत वर्ष म्यांमार के राष्ट्रपति थेन सीन ने संयुक्त राष्ट्र संघ को यह प्रस्ताव दिया था कि वे रोहिंग्या समुदाय को, 'किसी भी ऐसे अन्य देश में भेजने को तैयार हैं जो उन्हें स्वीकार करता है।' लेकिन सं.रा. संघ ने इससे इंकार कर दिया था।

वास्तविकता यह है कि रोहिंग्या मुसलमानों का मूल स्थान है 'रोहांग' राज्य जिसे आधिकारिक तौर पर राखीन या अराकान के नाम से जाना जाता है। यदि ऐतिहासिक प्रामाणिकता के लिहाज से देखा जाए तो समझ में आएगा कि रोहिंग्या न केवल इस क्षेत्र के मूल निवासी हैं, बल्कि सन् 1700 ईस्वी में बर्मा ने राखीनी पर कब्जा कर लिया था। बरसों-बरस खासकर 20वीं शताब्दी के पहले 50 वर्षों तक अराकान के मूल निवासियों को सस्ते एवं जबरिया मजदूर के रूप में बंगाल एवं भारत के विभिन्न हिस्सों में भेजा गया और वे वहां स्थायी रूप से बस गए। कई

दशकों से बौद्धों एवं मुसलमानों में सतत तनाव चला आ रहा है। सैन्य शक्ति से सहायता पाए बहुसंख्यकों के लिए आंचलिक या अंतरराष्ट्रीय सहयोग से वंचित अल्पसंख्यक समुदाय पर दबाव बनाए रखना अत्यंत आसान है। शक्ति संतुलन अपने पक्ष में न होने से अराकान की 8 लाख रोहिंग्या जनसंख्या, बिना किसी कानूनी अधिकार के चलते (क्योंकि उन्हें नागरिकता देना भी नकार दिया गया है), सरकार, सेना और बहुसंख्यक बौद्ध समुदाय के हाथों नस्ली हिंसा का शिकार होती जा रही है। इस क्रम में अब तक की सबसे वीभत्स हिंसा पिछले वर्ष जून से अक्टूबर के मध्य हुई थी। बौद्धों को भी इस हिंसा की भारी कीमत चुकानी पड़ी थी, लेकिन राज्य विहीन, अलग-थलग पड़े और रक्षा विहीन रोहिंग्या समुदाय को सर्वाधिक मृत्यु एवं विध्वंस झेलना पड़ा था।

जैसे ही 'शांति' की घोषणा हुई, वैसे ही रोहिंग्याओं को अमानुषिक भेदभाव एवं राजनीतिक अलगाव सहना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप हिंसा एक बार पुनः भड़क उठी और संघर्ष का आकार बढ़ता ही गया। आंचलिक एवं अंतरराष्ट्रीय मीडिया ने बताया कि गत फरवरी में राजधानी रंगून में क्रुद्ध बौद्ध भीड़ ने रोहिंग्या मुस्लिम विद्यालयों, दुकानों एवं घरों पर हमला किया। इस हिंसा का कारण यह अफवाह थी कि मुस्लिम समुदाय एक मस्जिद बनाने की योजना बना रहा है। जो कुछ भी अराकान में हो रहा है वह अत्याचारों की भयावहता और आकार में खतरनाक है।

बड़ी ताकतों का मौन

इस समुदाय को विश्व में सर्वाधिक उत्पीड़ित समुदाय के रूप में जाना जाता है। यह स्थिति दक्षिण पूर्वी एशिया (आसियान) देशों के लिए भी हानिकारक है,

लेकिन ये सभी देश दिखावटी सुधार के अलावा कुछ नहीं कर रहे हैं। वहीं अमरीका की अगुवाई में पश्चिमी देश भी म्यांमार की आर्थिक/प्राकृतिक संपदा को आपस में बांटने को तो तत्पर हैं, लेकिन वे मानवाधिकारों के मुद्दे पर कुछ भी नहीं कह रहे हैं। उन्हें छोटे-मोटे लोकतांत्रिक सुधार ही सब कुछ दिख रहे हैं और इसी बहाने पश्चिमी हथियारों की आवक भी बर्मा में बदस्तूर जारी है। जो भी विदेशी नेता यहां आ रहे हैं वे इस संघर्ष को म्यांमार का आंतरिक मामला बता कर कत्री काट रहे हैं। नार्वे ने तो म्यांमार में लोकतंत्र की वापसी ऐतिहासिक बताते हुए अपने ऋण माफ कर दिए हैं। बाकी देश भी नार्वे का ही अनुकरण कर रहे हैं और जापान ने गत वर्ष तीन अरब डॉलर की ऋण माफी दे दी।

आसियान एवं अन्य देशों को छोड़ भी दें तो लोकतंत्र की वकालत करने वाली और नोबल शांति पुरस्कार विजेता बर्मा निवासी आंग सान सू की चुप्पी सभी को हैरान करे हुए है। सौभाग्य से बांग्लादेश के नोबल शांति पुरस्कार विजेता मुहम्मद युनूस एवं तिमोर के पूर्व राष्ट्रपति (अब स्वर्गीय) रामोस-होरा ने रोहिंग्या लोगों के उत्पीड़न के खिलाफ कठोर टिप्पणियां की हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि रोहिंग्या लोगों पर हो रहे निरंतर अत्याचारों पर रोक लगे। उन्हें अधिकार और गरिमा दोनों मिलनी चाहिए। वैश्विक नागरिक समुदाय एवं आसियान देशों को अपना मौन तोड़ना चाहिए एवं रंगून के साथ अपने रिश्ते सुधारने की प्रक्रिया को तब तक के लिए स्थगित करना चाहिए जब तक कि निर्दोष पुरुषों, महिलाओं और बच्चों को उन्हीं के घरों में जिंदा जलाया जाना रोका नहीं जाता। इस अन्याय के बारे में विश्व को मालूम पड़ना चाहिए तथा इसे रोकने की दिशा में संगठित एवं दृढ़ निश्चयी प्रयत्न किए जाने चाहिए, जिससे रोहिंग्या समुदाय का उत्पीड़न समाप्त हो सके। (सप्रेस)

वार्ता के लिए लिखें

सामायिक वार्ता के लिए लेख, अन्य भाषाओं के महत्वपूर्ण लेखों के अनुवाद, साक्षात्कार, रपट, गतिविधियों के सामाचार और टिप्पणियां आमंत्रित हैं। लेख और रपट वार्ता के मिजाज के अनुकूल हों तो बेहतर होगा।

वार्ता में प्रकाशित सामग्री पर आपकी प्रतिक्रिया, टिप्पणियों और पत्रों का भी हमें इंतजार रहेगा। भाषा, टायपिंग और प्रूफ की गलतियों की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करें तो हमें मदद मिलेगी।

कहानी एक मजदूर अस्पताल की

पुण्यव्रत गुण

शंकर गुहा
नियोगी के नेतृत्व
में छत्तीसगढ़
मुक्ति मोर्चा ने
जो कई अभिनव
प्रयोग किए,
उनमें एक है
शहीद अस्पताल।
यह अस्पताल
कैसे बना, इसकी
क्या उपलब्धियां
और कमजोरियां
रहीं, इसकी
पड़ताल करता
एक लेख। स्वयं
इस प्रयोग का
हिस्सा रहे एक
डॉक्टर की लेखनी
से।

डॉ. पुण्यव्रत गुण
लंबे समय तक
शहीद अस्पताल में
काम करने के बाद
वर्तमान में
कोलकाता के पास
इसी तरह के
श्रमिक कृषक मैत्री
स्वास्थ्य केंद्र के
साथ है 'स्वास्थ्ये
वृत्त' नामक बांग्ला
पत्रिका के संपादक
भी हैं।

फोन 0983092194
shramjibiswasthya
@gmail.com

आज से बाईस साल पहले 1991 में छत्तीसगढ़ खदान मजदूर संघ के नेता शंकर गुहा नियोगी की हत्या के बाद उनके द्वारा स्थापित शहीद अस्पताल और श्रमिक स्वास्थ्य आंदोलन की अखबारों में काफी चर्चा हुई थी। इस चर्चा का एक नतीजा यह हुआ था कि देश के विभिन्न स्थानों और खासकर पश्चिम बंगाल में डाक्टरों और स्वास्थ्य कर्मियों ने शहीद अस्पताल और श्रमिक स्वास्थ्य आंदोलन के मॉडल का अनुसरण कर काम करना शुरू किया। बड़े अंतराल के बाद शहीद अस्पताल और श्रमिक स्वास्थ्य आंदोलन की फिर से चर्चा होने लगी है।

छत्तीसगढ़ में दल्ली राजहरा, खदानों वाला एक छोटा कस्बा है। दल्ली और राजहरा नाम की दो लौह खनिज की खदानों के नाम पर इस कस्बे को दल्ली राजहरा कहा जाता है। खदानों से निकाला जाने वाला लौह खनिज भिलाई के इस्पात कारखाने को भेजा जाता है। खदानों में काम करने वाले मजदूर मौटे तौर पर गांवों से आए खेत मजदूर और गरीब किसान थे। ये सभी ठेके पर काम करते थे। इनमें से एक समूह हथौड़ों से चट्टानों को तोड़ते तो दूसरा समूह टूटे हुए पत्थरों को ट्रकों में लादता था।

एकदम तड़के सूरज के उगने के पहले ठेकेदारों के ट्रक स्त्री-पुरुष मजदूरों को उनकी झुग्गी-झोपड़ियों से खदानों में ले जाते थे। ये मजदूर रात को अंधेरा छा जाने के बाद ही अपने घरों को लौट पाते। इन्हें अपने श्रम के बदले में जो मजदूरी मिलती वह इतनी कम थी कि इनका गुजारा भी नहीं हो पाता था और ऊपर से इस मजदूरी के पैसों में इंटक और

एटक की दो मजदूर यूनियनों चंदे के रूप में अपना हिस्सा वसूलती।

1975 की इमरजेंसी के बाद 1977 में हुए लोकसभा के चुनाव में कांग्रेस का सफाया होने पर दल्ली राजहरा के मजदूरों ने इंटक और एटक की केंद्रीय यूनियनों के चंगुल से अपने को मुक्त किया और एक नया मजदूर यूनियन, छत्तीसगढ़ माईन्स श्रमिक संघ कायम किया। अनपढ़ मजदूरों को एक ईमानदार नेता की तलाश थी। इमरजेंसी में मीसा के तहत गिरफ्तार किए गए कोर्याजाइट खदान मजदूरों के नेता शंकर गुहा नियोगी की तभी रिहाई हुई थी। दल्ली राजहरा के मजदूरों ने शंकर गुहा की प्रशंसा सुनी थी, वे उनसे मिले और उन्होंने उनसे अनुगोध किया कि वे उनका नेतृत्व करें। शंकर गुहा नियोगी ने दल्ली राजहरा के मजदूरों का साथ देना मंजूर किया। इस तरह दल्ली राजहरा के खदान मजदूरों को उचित मजदूरी दिलाने और उनके अधिकारों की रक्षा करने के लिए एक जोरदार आंदोलन की शुरुआत हुई। 2 जून, 1977 को आंदोलन को कुचलने के लिए पुलिस ने शंकर गुहा नियोगी को गिरफ्तार कर लिया। इस गिरफ्तारी का विरोध और शंकर गुहा नियोगी की रिहाई की मांग करते हुए मजदूरों ने प्रदर्शन किया तो पुलिस ने उन पर गोली चलाई जिसमें एक महिला मजदूर और एक बच्चे सहित 11 लोग मारे गए। आंदोलन की तीव्रता को देखते हुए प्रबंधन झुकने को मजबूर हुआ। शंकर गुहा नियोगी को रिहा किया गया और मजदूरों को उनका रोका हुआ बोनस भी दिया गया।

मजदूरों की इस सफलता के कुछ दिनों बाद श्रमिक संघ की सह-अध्यक्ष कुसुम बाई

की स्थानीय अस्पताल के डाक्टरों और नर्सों की लापरवाही से प्रसव के दौरान मृत्यु हो गई तो दस हजार मजदूरों ने अस्पताल के आगे प्रदर्शन किया। यह एक शांतिपूर्ण प्रदर्शन था, किसी भी प्रदर्शनकारी ने किसी भी डाक्टर और नर्स पर आक्रमण नहीं किया। इसके बजाए प्रदर्शनकारियों ने एक अनूठी बात की। उन्होंने यह संकल्प किया कि वे एक अस्पताल का निर्माण करेंगे ताकि कोई मां प्रसव के दौरान तीमारदारी और चिकित्सा के अभाव में मृत्यु का ग्रास न बने।

मजदूरों का संकल्प और सपना 1979 में साकार हुआ। श्रमिक संघ ने आम मजदूर यूनियनों से भिन्न केवल मजदूरी बढ़ाने और अपने कार्यकलाप को आर्थिक मामलों तक संकुचित करने के बजाए मजदूरों के सर्वांगीण विकास करने की नीति अपनाई। आम तौर पर मजदूर यूनियनें मजदूरों की पूरी जिंदगी से कोई मतलब नहीं रखती हैं। उनका मजदूरों की जिंदगी के सिर्फ 8 घंटों से जो वे कारखानों या खदानों में काम करते हुए गुजारते हैं, वास्ता होता है। इस प्रकार मजदूर यूनियनों का सरोकार मजदूरों की एक तिहाई जिंदगी तक ही सीमित रहता है। ऐसे मजदूर यूनियन मजदूरी बढ़ाने, बोनस की मांग करने तथा मजदूरों को मिली चार्जशीट का जबाब तैयार करने को ही अपना काम मानते हैं। इन मुद्दों के अलावा उन्हें मजदूरों की अन्य समस्याओं से कोई सरोकार नहीं होता।

श्रमिक संघ ने मजदूरों की समस्याओं पर नए ढंग से सोचना शुरू किया। 1979 में श्रमिक संघ ने विभिन्न विभागों में काम करने की नीति अपनाई। मजदूर और किसानों का संयुक्त मोर्चा बनाने, जातिवाद के उन्मूलन व महिलाओं की आजादी के लिए संघर्ष करने तथा लोकतांत्रिक संस्कृति को विकसित करने के कार्यक्रम चलाने के अलावा श्रमिक संघ ने जन स्वास्थ्य के मुद्दे पर भी ठोस काम करना तय किया।

संघर्ष और निर्माण

मजदूर आंदोलन से जुड़े किसी संगठन का स्वास्थ्य की समस्या से मुखातिब होना एक अनूठी बात है। छत्तीसगढ़ माईन्स श्रमिक संघ को क्या पड़ी थी कि वह एक अस्पताल बनाने का रचनात्मक कार्य करे? इस सवाल का जबाब देने के लिए हमें छत्तीसगढ़ माईन्स श्रमिक संघ की एक साथ 'संघर्ष और निर्माण' करने की दोहरी नीति को समझना होगा।

एक तरफ सामाजिक परिवर्तन के लिए संघर्ष तो दूसरी तरफ बेहतर समाज बनाने के लिए रचनात्मक कार्य। संघर्ष के साथ-साथ रचना का काम एक दूसरे की मदद करता है और उससे दोनों की ही शक्ति बढ़ती है। रचनात्मक कार्यों में अस्पताल बनाने, स्कूल खोलने और इंजीनियरी की कार्यशालाएं चलाने जैसे कामों को तरजीह देने का निश्चय किया गया। इन कामों को अंजाम देने की प्रक्रिया में मजदूरों के दिल दिमाग में भविष्य के समाज की कल्पना के बीज बोने का भी प्रयत्न किया गया- एक ऐसे समाज की कल्पना जिसमें मनुष्य का शोषण न हो।

छत्तीसगढ़ माईन्स श्रमिक संघ ने अपने रचनात्मक कार्यों में एक अस्पताल का निर्माण करने की योजना बनाई। इस योजना को एक प्रयोग माना जा सकता है। संघर्ष के दौरान मारे गए शहीदों की स्मृति में अस्पताल का नाम शहीद अस्पताल रखा गया। संघ के स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रम की धुरी शहीद अस्पताल था। इस प्रयोग में कई अनूठी सफलताएं हासिल हुईं तो कुछ खामियां भी उजागर हुईं।

अनूठी सफलताएं

1. दिल्ली राजहरा का स्वास्थ्य आंदोलन मूलतः श्रमिक संघ के नेतृत्व में क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों द्वारा चलाए जाने वाला आंदोलन था। शुरू में इसमें कोई डाक्टर या बुद्धिजीवी शामिल नहीं था। शराबबंदी और स्वच्छता के प्रचार अभियानों से आंदोलन की शुरुआत हुई। 1979 में तीन डाक्टर-डा.विनायक सेन, डा. आशीष कुंडू और डा.पवित्र गुहा - आंदोलन से जुड़े। तीन वर्ष के बाद 1982 में एक और डाक्टर डा.शैबाल जाना ने आंदोलन के कार्यों में भाग लेना शुरू किया। ये डाक्टर मजदूर बस्तियों और खदानों में सभाएं करते और उनमें शराबबंदी, स्वच्छता और चिकित्सा की आवश्यकता के बारे में मजदूरों को बताते। 1981 में जनस्वास्थ्य आंदोलन को संचालित करने के लिए मजदूरों के सौ से भी अधिक निर्वाचित प्रतिनिधियों की एक स्वास्थ्य कमेटी का गठन किया गया। 26 जनवरी 1982 को श्रमिक संघ के दफ्तर के निकट एक छोटा दवाखाना खोला गया। इस दवाखाने के अलावा एक अस्पताल बनाने का काम भी शुरू किया गया और 1977 के शहीदों की स्मृति में अस्पताल का नाम शहीद अस्पताल रखने का निर्णय किया गया। 1983 में शहीद अस्पताल का उद्घाटन हुआ। श्रमिक संघ के सभी प्रमुख सदस्य



अस्पताल के सभी कार्यों में भाग लेते- स्वास्थ्य संबंधी जानकारियों का प्रचार करना, दवाखाना चलाना, अस्पताल का निर्माण करना और उसका संचालन करना आदि।

विदेशी मदद को ठुकराया

2. शहीद अस्पताल के निर्माण का सारा काम स्थानीय लोगों द्वारा किया गया। आर्थिक संघर्षों में जीत के साथ मजदूर चंदा उगाहने लगे और अस्पताल के निर्माण-कोष के लिए पैसा इकट्ठा करने लगे। पहले अस्पताल में 15 बिस्तरों की ही व्यवस्था हो पाई। बाद में अस्पताल के दो मंजिला हो जाने पर बिस्तरों की संख्या बढ़ाकर 40 कर दी गई। एक आधुनिक आपरेशन कक्ष भी बनाया गया। इसके बाद अस्पताली गाड़ियां (एम्बुलेंस) और चिकित्सा-उपकरणों की खरीद की गई। बाहरी मदद के रूप में मुख्य मदद डाक्टरों और प्रशिक्षित नर्सों की सेवाएं थीं, जो स्थानीय रूप से उपलब्ध नहीं हो सकती थीं। शहीद अस्पताल में काम करने वाले सभी डाक्टर और नर्स पश्चिम बंगाल के क्रांतिकारी छात्र आंदोलन में भाग ले चुके थे। छत्तीसगढ़ माईन्स श्रमिक संघ के पास स्वास्थ्य आंदोलन चलाने के लिए सरकारी और गैरसरकारी यहां तक कि विदेशी मदद के बहुत सारे प्रस्ताव आए पर संघ ने सोच-

समझकर उन्हें स्वीकार करने से इनकार कर दिया। प्रलोभन बहुत था पर संघ फिसला नहीं। बाहरी आर्थिक मदद लेने का मतलब अपनी स्वतंत्रता को खोना होता। इस तरह शहीद अस्पताल वास्तव में मजदूर जनता द्वारा मजदूर जनता के लिए बनाया गया अस्पताल था।

3. स्वास्थ्य आंदोलन के शुरुआती दौर में डाक्टरों और स्वास्थ्यकर्मियों के मन में यह द्वंद्व था कि वे इलाज (क्यूरेटिव हेल्थ केयर) पर जोर दें या रोग की रोकथाम (प्रिवेंटिव हेल्थ केयर) पर। कुछ लोग अस्पताल खोलने के खिलाफ थे क्योंकि उन्हें यह शंका थी कि अस्पताल बन जाने पर स्वास्थ्य संबंधी व्यापक अभियान में बाधा आ सकती है। यह तो अनुभव से ही साबित हुआ कि दवाखाना या अस्पताल चलाना स्वास्थ्य के मामले में लोगों (मजदूरों) को सचेत करने में किसी भी प्रकार से बाधक नहीं, वरना सहायक ही है।

स्वास्थ्य कार्यक्रमों द्वारा स्वास्थ्य आंदोलन ने लोगों का आत्म विश्वास बढ़ाया। स्वास्थ्य के बारे में प्रचलित वहम और अंधविश्वास को दूर कर तथा नीम हकीमों के इलाज के अवैज्ञानिक तरीकों की पोल खोलकर स्वास्थ्य आंदोलन ने अपने कार्यक्रमों द्वारा लोगों को सचेत किया और उनमें वैज्ञानिक तरीकों के प्रति भरोसा पैदा किया।

1980 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने गैरजरूरी दवाओं की पहली सूची प्रकाशित की। इसके बाद हमारे पड़ोसी बांग्ला देश ने सारी इस्तेमाल न करने लायक और नुकसानदेह दवाओं पर प्रतिबंध लगा दिया। हमारे देश में भी बहुत से स्थानों में प्रतिबंध लगाए जाने की मांग की गई। पश्चिम बंगाल में स्वास्थ्य की सही और वैज्ञानिक देखभाल के लिए एक संगठन (ड्रग ऐक्शन फोरम) की स्थापना की गई और उसके बाद अखिल भारतीय स्तर पर भी नुकसानदेह दवाओं पर प्रतिबंध लगाने का आंदोलन तेज हुआ। शहीद अस्पताल ने भी इस आंदोलन में भूमिका निभाई। वह नुकसानदेह दवाओं के परीक्षण की पहली प्रयोगशाला बना।

सेहत और राजनीति

4. राजहरा के स्वास्थ्य आंदोलन ने मजदूर जनता को इतना प्रभावित किया कि वह उनके जीवन का एक अंग बन गया। इस आंदोलन ने यह जताया कि स्वास्थ्य संबंधी सभी प्रकार की समस्याएं बुनियादी रूप में सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक हैं। अधिकांश बीमारियों को सामाजिक-आर्थिक ढांचे को बदले बिना रोक पाना भी संभव नहीं है। यही नहीं स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं को आंशिक रूप से भी हल करना संभव नहीं है यदि उन्हें एक वृहत्तर आंदोलन का एक अंग न बनाया जाए। इस बात को समझने के लिए गरीब देशों का उदाहरण लें। इन देशों में स्वास्थ्य संबंधी बहुत सी समस्याओं का तात्कालिक पेट की बीमारियों से है। देश में जानलेवा बीमारियों में इसका दूसरा स्थान है। यह देखा गया है कि कुपोषण के शिकार बच्चों को आम तौर पर पेट की बीमारियां होती ही हैं। दूषित पानी पीने से डायरिया का बैक्टेरिया (जीवाणु) फैलता है, कुछ हद तक बासी और खुले में रखे गए खाद्य पदार्थों को खाने से भी। छोटी-छोटी कोठरियों में भेड़-बकरी की तरह ठूंसे रहने की स्थिति में जो लोग रहते हैं उनमें ज्यादातर लोग डायरिया के मरीज होते हैं। पेट की

बीमारियां शरीर में जल के अभाव (डीहाइड्रेशन) के कारण जानलेवा रूप धारण करती हैं। यह जानकारी कि जल के अभाव रोकने और शरीर में जल रहने देने के लिए पानी में नमक और चीनी डालकर घोल बनाकर पीने से बीमारी का इलाज हो सकता है, लोगों को स्वास्थ्य आंदोलन द्वारा दी गई। विकसित देश पेट की बीमारियों पर काबू पा सके हैं तो उसका कारण सिर्फ यह है कि वे नागरिकों को पीने के लिए स्वच्छ पानी के अलावा शुद्ध और ताजे खाद्य पदार्थ व पौष्टिक आहार उपलब्ध कर सके हैं और यह शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के कार्यक्रमों के माध्यम से ही संभव हो सका है। ज्यादातर स्वास्थ्य संस्थाएं और गैरसरकारी संगठन सिर्फ दवाओं के इस्तेमाल से पेट की बीमारियों का इलाज करने पर जोर देते हैं। कुछ गैर सरकारी संगठन पानी को उबालकर पीने का भी उपदेश देते हैं पर वे यह भूल जाते हैं कि जब अन्न जुटाने के लिए पैसे नहीं



होते तब पानी उबालने के लिए ईंधन जुटाने के पैसे कहाँ से आएंगे। इन संगठनों के प्रचार-अभियानों में ताजे भोजन और सफाई की आवश्यकता आदि प्रश्नों पर आमतौर पर चर्चा नहीं की जाती। लेकिन राजहरा स्वास्थ्य आंदोलन की विशेषता इस बात में है कि उसने शुरु से ही बीमारियों को सामाजिक-आर्थिक स्थिति से जोड़कर देखा और दवाओं की उपयोगिता पर सवाल खड़ा किया। श्रमिक संघ ने प्रशासन को नलकूप (हैंडपंप) बिठाने को बाध्य किया ताकि पीने का साफ पानी उपलब्ध हो। राजहरा और उसके आसपास के इलाकों में 79 नलकूप लगाए गए।

इलाके में पेट की बीमारियों पर काबू पाने में एक

हद तक सफलता मिली तो उसकी वजह राजहरा के मजदूरों द्वारा लगातार आंदोलन के माध्यम से आर्थिक व शैक्षणिक प्रगति करना और अपने परिवेश को ज्यादा साफ-सुथरा रखना था।

5. राजहरा स्वास्थ्य आंदोलन में जो लोग सक्रिय थे, वे अपने काम को किस प्रकार देखते हैं, यह जानना लाभप्रद होगा।

(एक) स्वास्थ्य की देखभाल की वैज्ञानिक पद्धति का प्रचार - शहीद अस्पताल अपने विकास के सभी चरणों के दौरान समाज के सभी वर्गों तक स्वास्थ्य के वैज्ञानिक ढंग से देखभाल करने की व्यवस्था को ले जाने का प्रयत्न करता रहा। प्रारंभिक चरणों में उसे श्रमिक संघ के ही एक बड़े समूह का विरोध झेलना पड़ा। विरोध का कारण यह था कि शहीद अस्पताल मजदूरों को गैरजरूरी विटामिनों और कैल्शियम की गोलियां नहीं देता था, उन्हें सुइयों (इंजेक्शन) नहीं लगाता था। मजदूरों को इंजेक्शन के प्रति भारी मोह था क्योंकि वे यह सोचते थे कि इससे तुरंत आराम मिलता है और बीमारी भाग जाती है। शहीद अस्पताल ने पेट की बीमारियों के लिए गोलियां खाने के बदले नमक-चीनी के घोल को पीने, सर्दी-जुकाम में कफ सिरप के बदले गरम पानी की भाप लेने और बुखार होने पर एनालजिन की गोलियां गटकने के बदले शरीर को ठंडे पानी से पोंछने का प्रचार किया और अस्पताल में इन विधियों के व्यवहार की व्यवस्था की। लोग इन विधियों से चंगे होने के प्रति आश्वस्त होने लगे। अस्पताल में विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा मान्यता प्रदान की जाने वाली दवाओं का ही इस्तेमाल किया जाता; प्रतिबंधित दवाओं का इस्तेमाल एकदम निषिद्ध था। जरूरी होने पर एक निर्धारित मात्रा में कुछ कंपनियों की ब्रैंड वाली बजारू दवाओं के बजाए असली वैज्ञानिक नामों वाली (जेनेरिक) दवाएं दी जातीं।

(दो) शहीद अस्पताल के माध्यम से लोगों को जानकारी देकर स्वास्थ्य के बारे में शिक्षित किया जाता। प्रारंभ में मजदूर बस्तियों और गांवों में डाक्टर और स्वास्थ्यकर्मी रोगियों से बातचीत कर उनकी समस्या समझते और उन्हें उपचार के तरीके बताते। पोस्टर और पोस्टर प्रदर्शनियां लगाई जातीं, फिल्म की स्लाइडें दिखाई जाती, दीवार पर चिपकाने वाली पत्रिकाएं निकाली जाती, 'जन स्वास्थ्य शिक्षा माला' की पुस्तिकाएं वितरित की जातीं।

राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय दवा कंपनियों द्वारा की

जाने वाली लूट के बारे में स्वास्थ्य कर्मियों को अवगत कराना उनके प्रशिक्षण का एक महत्वपूर्ण अंग था। अंतरराष्ट्रीय दवा कंपनियों की लूट के खिलाफ प्रचार प्रकारांतर से देश में अंतरराष्ट्रीय कंपनियों की लूट और साम्राज्यवादी शोषण के खिलाफ संघर्ष का एक रूप बना।

प्रशिक्षण के पहले दौर में जिन्हें प्रशिक्षित किया गया, वे खदान मजदूर थे। उनका प्रधान काम स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के बारे में प्रचार कर जागरुकता पैदा करना था, जिससे वे अपनी बस्तियों में खुद ही मामूली बीमारियों से निपट सकें। इसके बाद मजदूरों के बच्चों को प्रशिक्षण देकर जनता डाक्टरों ('बेयरफुट डाक्टर') जैसा एक दल बनाया गया। इसके अलावा अस्पताल के स्वास्थ्यकर्मियों के लिए सात महीने का एक प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाया गया, जिसका मुख्य उद्देश्य मजदूरों और किसानों के परिवारों के बच्चों को शिक्षा देना था। सारा स्वास्थ्य कार्यक्रम छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा के आंदोलनों से पूरी तरह जुड़ा हुआ था। मोर्चे के आंदोलन या हड़तालों में मांग लेने वालों के परिवारों के स्वास्थ्य की देखभाल करने की पूरी जिम्मेवारी शहीद अस्पताल उठाता था।

दल्ली राजहरा में कोई सरकारी अस्पताल नहीं था। भिलाई इस्पात कारखाने के अस्पताल की सेवाएं अपर्याप्त थीं। शहीद अस्पताल की लोकप्रियता ने सरकार को बाध्य किया कि वह राजहरा में एक अस्पताल और दल्ली-राजहरा विधान सभा निर्वाचन क्षेत्र में सात प्राथमिक चिकित्सा केंद्र खोले। भिलाई इस्पात कारखाना भी 100 बिस्तरों वाला एक अस्पताल खोलने को बाध्य हुआ।

राजहरा स्वास्थ्य आंदोलन की कुछ समस्याएं

(क) आंदोलन के शुरुआती दौर में भाषा की समस्या के साथ लोगों द्वारा अपनी स्वास्थ्य समस्याओं को ठीक से बता पाने का कोई तरीका न हो पाने की कठिनाई सामने आई। तरह-तरह के प्रयोगों और गलतियों से सबक लेने से यह कठिनाई दूर हो पाई।

आमतौर पर डाक्टर और स्वास्थ्य संबंधी अभियान की प्रचार-सामग्री तैयार करने वाले लोग मजदूरों के शुभेच्छु तो थे लेकिन शहरों में रहने और विदेशी स्वास्थ्य प्रणालियों से संचालित होने के कारण मजदूरों की दुनिया और उनकी स्वास्थ्य समस्याओं से अनभिज्ञ थे। उन्हें यह पता नहीं था कि किस प्रकार की प्रचार सामग्री लोगों के मुआफिक होगी और उनकी समझ में आएगी। राजहरा जन स्वास्थ्य

आंदोलन ने इस कठिनाई को लोगों के निकट जाकर और उनकी परिस्थितियों और सोच को समझ कर दूर किया।

(ख) शहीद अस्पताल मजदूरों का अस्पताल है। इसका संचालन और प्रबंध भी मुख्य रूप से मजदूरों के हाथों में है। यह देखने में आया कि जब मजदूर प्रबंधन का अंग बन गए, तो अस्पताल के वेतनभोगी कर्मचारियों से उनका व्यवहार खदानों के ठेकेदारों के मातहत काम करने वाले अधिकारियों जैसा ही होने लगा। इस प्रवृत्ति को अनवरत राजनैतिक और सैद्धांतिक प्रशिक्षण और आंदोलन द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है।

(ग) अस्पताल के सारे वेतनभोगी कर्मचारी मजदूर-किसान परिवारों के लोग हैं। नियुक्ति के समय छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा के आदर्शों और सिद्धांतों में उनकी निष्ठा को परखा जाता है लेकिन इसके बावजूद कुछ कर्मचारियों का व्यवहार नौकरी करने वाले वेतनभोगी कर्मचारियों जैसा ही रह जाता है। इस समस्या को हल करने के लिए स्वास्थ्य और चिकित्सा संबंधी राजनीति, राजनीतिक प्रश्नों और समसामयिक परिवर्तनों व घटनाओं पर कर्मचारियों के साथ नियमित रूप से विचार-विमर्श करना और बहस में लाना जरूरी है। ऐसे कर्मचारियों की (उनके काम के अलावा) आंदोलन के संगठनात्मक कार्यों में भागीदारी बढ़ाकर भी इस समस्या को हल करने की चेष्टा की जा सकती है।

(घ) अस्पताल के संचालन में निर्णय करने के मामले में लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के अभाव और केंद्रीकरण की प्रवृत्ति के भी आसार दिखाई पड़ते हैं। लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं और केंद्रीकरण की प्रवृत्ति के द्वंद्व की स्थिति पैदा होती रहती है। निर्णय करने वाली कमेटी में डाक्टरों और स्वास्थ्यकर्मी दोनों ही हैं। कमेटी के काम में अपनी व्यक्तिगत सनक पर जोर देने, संचालन संबंधी निर्देशों की अवमानना करने की प्रवृत्तियां भी दृष्टिगोचर हुईं। कभी-कभी अस्पताल के संचालन में अतिकेंद्रीकरण भी दिखाई देता है जिससे कुछ निराशा भी पैदा होती है। लेकिन इन सब बाधाओं के बावजूद दल्ली राजहरा का स्वास्थ्य आंदोलन लोकतांत्रिक केंद्रीकरण के एक प्रयोग के रूप में बाधाओं का मुकाबला कर जीवित रह सका है।

आदर्शवाद बनाम बाजारवाद

(च) एक बहुत बड़ी समस्या ऐसे डाक्टरों के अभाव की रही है जो स्वास्थ्य-समस्याओं पर चालू ढर्रे

से हटकर सोच पाएं और आदर्शवादी हों। छत्तीसगढ़ का स्वास्थ्य आंदोलन ऐसे डाक्टर पैदा नहीं कर पाया है। यह कमी तो एक क्रांतिकारी (मेडिकल) छात्र युवा आंदोलन के विकास से ही दूर हो सकती है। 28 सितंबर 1991 को भिलाई के मजदूर आंदोलन के दौरान शंकर गुहा नियोगी की हत्या कर दी गई। छत्तीसगढ़ माईन्स श्रमिक संघ वर्ग संघर्ष बनाम वर्ग सहयोग, लोकतंत्र बनाम केंद्रीकरण जैसे मुद्दों पर सैद्धांतिक बहस चलाता रहा है। शंकर गुहा नियोगी की शहादत के बाद इन मुद्दों पर बहस का रूप कुछ बिखर और बिगड़ गया और छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चे के एक नेता और शहीद अस्पताल के कुछ डाक्टरों को संगठन से निष्कासित कर दिया गया और कुछ लोगों ने निराशा में अस्पताल छोड़ दिया। शहीद अस्पताल का आगे प्रसार हुआ और बिस्तरों की संख्या भी बढ़ी लेकिन जो नए डाक्टर आए, वे किसी आदर्श से प्रेरित नहीं थे। उनका उद्देश्य किसी सरकारी अस्पताल की नौकरी में या एम.बी.बी.एस. की आगे पढ़ाई की कक्षाओं में प्रवेश पाने के पहले शहीद अस्पताल में काम कर समय काटना था। इस तरह के डाक्टरों में चिकित्सा के चालू ढर्रे पर ही चलने की प्रवृत्ति होती है और सामाजिक दायित्व का भाव भी नहीं होता। इनमें से कुछ तो भ्रष्टाचार में भी लिप्त हो गए। पुराने डाक्टर और स्वास्थ्यकर्मी भी रोगियों का इलाज करने के साथ-साथ आदर्शों के लिए संघर्ष को आगे नहीं बढ़ा पाए।

लेकिन यह कहना गलत होगा कि छत्तीसगढ़ के मजदूरों का स्वास्थ्य आंदोलन असफल रहा और समाप्त हो गया है। शहीद अस्पताल से प्रेरणा प्राप्त कर पश्चिम बंगाल के बेलूर में श्रमजीवी अस्पताल, चंगाइल में श्रमिक-कृषक मैत्री स्वास्थ्य केंद्र और श्रमजीवी स्वास्थ्य उद्योग, कमारहाटी में जन सेवा क्लीनिक और डा.भास्कर राव जन स्वास्थ्य कमेटी, सर्वेदेर (सबका) सुंदरवन श्रमजीवी अस्पताल आदि काम कर रहे हैं। लेकिन उन्हें शहीद अस्पताल की तरह एक व्यापक जन आंदोलन के एक अंग के रूप में काम करने का अवसर नहीं मिला है। अपनी सारी सीमाओं और कमियों के बावजूद वे शहीद अस्पताल के आदर्शों और अनुभवों के आधार पर प्रयोग कर रहे हैं और झारखंड, मध्यप्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश और त्रिपुरा के राज्यों में जन संगठनों के कार्यकर्ताओं को स्वास्थ्यकर्मी के रूप में तैयार कर शहीद अस्पताल का संदेश ले जाने की चेष्टा कर रहे हैं।

वैश्वीकरण का मंथन

सच्चिदानंद सिन्हा

पुस्तक के नाम 'चर्निंग द अर्थ' का संकेत समुद्र मंथन की उस मिथकीय घटना की ओर है जिसमें अमृत और विष पैदा हुए थे। छल से देवों ने अमृत को अपने हिस्से कर लिया था। आधुनिक वैश्विक और भारतीय संदर्भ में इसका संकेत प्राकृतिक संपदा के दोहन से पैदा संपत्ति के विभाजन से है जो लेखकों की दृष्टि में अत्यंत विषमतापूर्ण है और यहां भी कारण संपन्न वर्गों विशेषकर यूरो-अमरीकी धनाढ्यों का छल बल है।

संकेत के धरातल से उतरकर जब हम दुनिया के वास्तविक धरातल पर आते हैं तो प्राकृतिक संपदा के मंथन की प्रक्रिया जिसे वैश्वीकरण या ग्लोबलाइजेशन कहा जाता है दो कालखंडों में दिखाई देती है, पहली 1870-1914 में ब्रिटेन के वर्चस्व में और दूसरी द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका के बढ़ते प्रभुत्व के साथ शुरू होती है। ग्लोबलाइजेशन शब्द का व्यापक प्रचलन 1990 के बाद से होता है - यानी सोवियत यूनियन के ध्वस्त होने और चीन के तथाकथित उदारवादी पूंजीवादी व्यवस्था अपनाने के बाद से। इसके मूल में पूंजीवादी व्यवस्था में निहित उत्पादन और विनिमय को लगातार फैलाते जाने का दबाव है क्योंकि इसी से मुनाफे का अविरोध विस्तार संभव है जो पूंजीपतियों के उद्यम का मूल उद्देश्य होता है।

पूंजीवाद के इस चरित्र पर मार्क्स और मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों ने विशद अध्ययन किया है। लेकिन लेखक द्वय ने अपने अध्ययन को पूंजीवादी व्यवस्था के मूल चरित्र से जोड़ इस व्यवस्था के अंतर्निहित दबावों का विश्लेषण करने की कोशिश नहीं की है और न स्पष्ट रूप से पूंजीवादी व्यवस्था को खतम करने की बात की है। उन्होंने सिर्फ इसके वर्तमान चरण यानी 1990 के बाद के भारत में उदारीकरण की नीति के परिणामों की ही चर्चा की है और एक कारक वित्तीय पूंजी के बढ़ते महत्व को ही रेखांकित किया है। दूसरे अर्थशास्त्रियों ने और स्वयं लेनिन ने साम्राज्यवाद के अध्ययन में वित्तीय पूंजी के

बढ़ते महत्व को रेखांकित किया है लेकिन इसे पूंजीवाद के विकास का एक अनिवार्य चरण माना है।

मुद्रा के विकास के बाद और खासकर पूंजीवाद के विकास के बाद से संपत्ति का मानक या प्रतीक मुद्रा बन गई है। इससे कागजी या दूसरे सांकेतिक मुद्रा का अंबार संपत्ति का पर्याय बन गया है और अपने भीतर अनेक संकटों को छिपाए रखता है। लेखकों ने पूंजी के इसी आयाम को केन्द्र में रखा है। आधुनिक संदर्भ में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर 'वाशिंगटन सहमति' के वर्चस्व में ही भारतीय संकट की शुरूआत देखी गई है।

इस तरह संकट की शुरूआत राजीव गांधी की उन नीतियों में देखी गई है जिनके तहत उन्होंने 1980 के दशक में बिना सोचे समझे हथियारों की खरीद और दूसरी मदों पर अत्यधिक खर्च किया। इसी से अंतरराष्ट्रीय विनिमय का संकट पैदा हुआ और यह नौबत आई कि 1991 में भारत को आपात खर्च की आपूर्ति के लिए अपना सोना गिरवी रखना पड़ा।

इसी संकट के संदर्भ में भारत को अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष से 22 अरब डालर और विश्व बैंक से 50 करोड़ डालर का 'समायोजन' कर्ज लेना पड़ा। इस कर्ज से भारत को बजट घाटे और विदेशी व्यापार के घाटे से मुक्त किया गया। ऐसी नीति के पीछे दबाव बनाने वाले कारकों में सोवियत यूनियन का विघटन एवं चीन का बाजार व्यवस्था की दिशा में कदम बढ़ाना भी था। लेखकों ने व्यवस्था में अंतरनिहित दबावों का कोई उल्लेख नहीं किया है। सिर्फ यह बात दर्ज कर दी गई है कि संविधान में उल्लेखित उन निर्देशों का उल्लंघन हुआ जिसमें आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण को रोकने की सलाह है और लघु उद्योगों को प्रोत्साहित करने का निर्देश है।

कर्ज देने वाली वित्तीय संस्थाओं के दबाव में मुद्रा का अवमूल्यन, सरकारी खर्च में कटौती जैसी नीतियां अपनाई गईं। लेखकों के अनुसार इनसे भारत सरकार आर्थिक नीतियों में वह स्वतंत्रता खोने लगी जिसे उसने

1980 तक बरकरार रखा था। लेखकों की राय में नेहरू के समय से राज्य ने एक हद तक सामाजिक आर्थिक न्याय स्थापित करने की कोशिश की थी। व्यापारी वर्ग को भले ही इससे नाराजगी होती हो लेकिन निजी कॉरपोरेशनों की शक्ति पर अंकुश लगा था। लेकिन अब सब कुछ बदल गया। यहां तक कि लोगों को पेयजल का भी अभाव होने लगा। इसके पहले समुचित राशन व्यवस्था कायम थी जिससे लोगों को सस्ता अन्न मिलता था। 1980 तक भारत अन्न के मामले में आत्मनिर्भर बन गया था। स्वास्थ्य सुविधाएं कम थीं लेकिन इनका निजीकरण नहीं हुआ था। विभिन्न तरह के उद्योगों की आधारशिला रखी गई थी और तकनीकी शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र जैसे आई आई टी स्थापित हुए थे। इसके विपरीत बाद के वर्षों में भारतीय राज्य का काम सिर्फ चुनावों में लोगों का मत लेकर बड़े कॉरपोरेट घरानों की सेवा करना बन गया है। इस दिशा में हाल के दिनों में विभिन्न देशी विदेशी औद्योगिक घरानों से गठजोड़ के आधार पर नीतियां बनी हैं।

तेज औद्योगिक विकास के लिए 'स्पेशल इकोनॉमिक ज़ोन' का विस्तार हुआ है जिसमें किसानों और आदिवासियों के हितों का हनन हुआ है और उनकी भूमि और अधिकारों का अतिक्रमण। इससे औद्योगिक विकास तो हुआ है लेकिन आम लोगों का जीवन स्तर गिरा है और पर्यावरण पर घोर नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। इस बात की पुष्टि में स्वयं सरकारी और वैश्विक संगठनों के यथेष्ट आंकड़े दिए गए हैं। सकारात्मक पहल जैसे सूचना का अधिकार, पंचायती राज और वेब से सरकारी सूचनाओं को प्राप्त करने की सुविधा आदि लोगों के दबाव से प्राप्त हुए हैं। लेखकों का मानना है कि तथाकथित हिंदू दर यानी 3 प्रतिशत से बढ़कर कन्फुशियस दर (6 से 9 प्रतिशत) से विकास पहले की मंदी की पृष्ठभूमि में महत्वपूर्ण लगता है। हकीकत में भारत 1974 और 1990 के बीच में 5-6 प्रतिशत के दर से विकास करता रहा है। यह वह काल था जिसमें इंदिरा गांधी और राजीव गांधी के हाथ सत्ता थी।

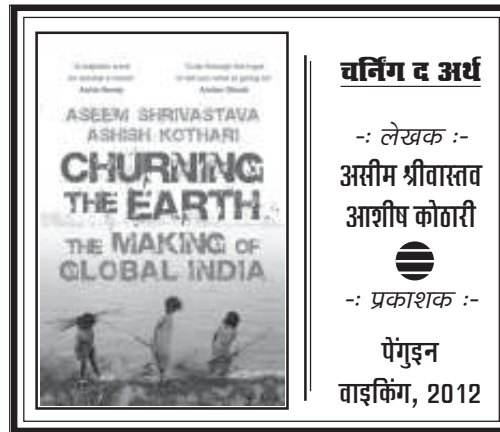
लेखकों ने आर्थिक विकास से पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभाव को रेखांकित किया है जो उनकी चिंता का

मुख्य विषय है। उन्होंने इस संदर्भ में अर्थशास्त्री हरमन डाली के विचारों की ओर ध्यान खींचा है। अर्थशास्त्री हरमन डाली ने दो चीजों में भेद किया था - आदमी की बुनियादी आवश्यकताएं यानी भोजन, पानी, वस्त्र आदि और तुलनात्मक आवश्यकताएं जिसमें मनुष्य समाज के दूसरे मनुष्यों की तुलना में विभिन्न वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयास करता है। डाली ने यह दिखलाने की कोशिश की थी कि इस दूसरी तरह की आवश्यकता के विस्तार से पर्यावरण पर निरर्थक बोझ बढ़ता है। इससे प्रकृति के संरक्षण की चिंता महत्वपूर्ण बन जाती है। इसके लिए पुस्तक के लेखकों ने इकोलोजिकल डेमोक्रेसी यानी पर्यावरणीय लोकतंत्र का आह्वान किया है। लेकिन इस दिशा में जिन प्रयत्नों की चर्चा है वह काफी कमजोर दिखती है।

वे लिखते हैं, "चमकते भारत की तस्वीर धूल में मिल गई है। एक मात्र अपवाद वर्तमान यू.पी.ए. गठनबंधन सरकार है जो लहर के विपरीत खड़ी है और अपनी जनहितैषी नीतियों के चलते जैसे- महात्मा गांधी रोजगार गारंटी कानून (मनरे गा), वन अधिकार कानून, सूचना के अधिकार को बुद्धियुक्त ढंग से लागू करने के चलते टिकी है।"

हालांकि इस सरकार के विकास के संबंध में मूल चिंतन के हिसाब से यह वक्तव्य विरोधाभासी ही है।

यू.पी.ए. की इन नीतियों के अलावा पर्यावरणीय लोकतंत्र की दिशा में उन पहलों का जिक्र है जो छिटपुट ढंग से स्थानीय स्तर पर दिखाई देती हैं या 'सिविल सोसायटी' यानी गैर सरकारी संगठनों के प्रयास में हुई है। वर्तमान औद्योगिक विकास की कमजोरियों का जिक्र करते हुए काफी तथ्यों का उल्लेख है जिससे इस विकास प्रक्रिया की निरर्थकता दिखाई देती है। लेकिन समस्याओं के निराकरण की जो दिशा दिखाई गई है वह समस्या की गंभीरता के हिसाब से हास्यास्पद लगती है। कहीं यह आशा नहीं बनती कि अमृत से वंचित लोगों को अमृत मिल पाएगा।



चर्चिग द अर्थ

--: लेखक :-

असीम श्रीवास्तव
आशीष कोठारी



--: प्रकाशक :-

पेंगुइन
वाइकिंग, 2012

मस्तराम कपूर

लोहिया रचनावली के रचयिता

प्रेम सिंह

समाजवादी विद्वान और हिंदी के लेखक डॉ. मस्तराम कपूर का 2 अप्रैल 2013 को दिल्ली में उनके निवास पर निधन हो गया। वे 87 वर्ष के थे। फरवरी महीने में उन्हें कैंसर होने का पता चला था जो सारे शरीर में फैल गया था। कैंसर के कष्ट के बावजूद वे अंत तक सचेत रहे और सीपीआई महासचिव एबी वर्धन के साथ तीसरे मोर्चे के गठन के प्रयास में लगे रहे।



कपूर साहब ने बड़ी मेहनत और लगन से डॉ. राममनोहर लोहिया के संपूर्ण लेखन को हिंदी और अंग्रेजी में क्रमशः 'राममनोहर लोहिया रचनावली' और 'कलेक्टेड वर्क्स ऑफ डॉ. राममनोहर लोहिया' शीर्षक से 9 खंडों में संपादित करके प्रकाशित कराया। 'लोकसभा में लोहिया' के भी 5 खंड उन्होंने संपादित किए। यह उनका निश्चित रूप से ऐसा काम और योगदान है जो राजनीतिक और अकादमिक जगत के लिए स्थायी महत्व का है। लेकिन यह याद कर लेना भी जरूरी है कि कपूर साहब के लिए लिए यह काम करना आसान नहीं होता अगर तीन मूर्ति लाइब्रेरी के निदेशक स्वर्गीय हरिदेव शर्मा सारी सामग्री का व्यवस्थित ढंग से संकलन नहीं कर गए होते। कपूर साहब का हरिदेव जी के साथ पुराना संबंध था जिसे उन्होंने उनके छोड़े काम को पूरा करके निभाया।

कपूर साहब का मधु लिमये और सुरेंद्र मोहन के साथ लंबे समय से निरंतर संपर्क था। मधु जी के लेखों/पुस्तकों को अंतिम रूप देने और अनुवाद करने का काफी काम वे करते थे। लोहिया रचनावली के बाद वे मधु लिमये के लेखन को समग्रतः प्रकाशित कराने के काम में लगे थे। कपूर साहब ने सुरेंद्र मोहन के चुनिंदा लेखों को भी वर्गीकृत करने का शुरुआती काम किया था। मैंने जब सुरेंद्र मोहन जी के लेखों को विषयवार पुस्तकाकार रूप

देने का काम किया तो कपूर साहब द्वारा की गई तैयारी का मुझे लाभ मिला।

नया संघर्ष, सामयिक वार्ता, जनता आदि समाजवादी पत्रिकाओं से उनका गहरा जुड़ाव था। कमल मोरारका की मदद से स्थापित समाजवादी साहित्य संस्थान का कार्यभार तो उन पर था ही। वहां से उन्होंने समाजवादी साहित्य की कुछ पुस्तकें प्रकाशित कीं।

कपूर साहब देश के प्रायः सभी दैनिक अखबारों और अंग्रेजी साप्ताहिक 'जनता' में

नियमित रूप से राजनीतिक-सामाजिक विषयों पर गंभीर लेख लिखते थे। समाजवाद और सामाजिक न्याय में उनकी अटूट आस्था थी। जाति-विनाश और आरक्षण के वे एक साथ कट्टर समर्थक थे। वे सवर्ण समाज और सरकारों की दलित-आदिवासी और पिछड़ी जाति विरोधी मानसिकता पर बार-बार दस्तक देने वाले बुद्धिजीवी थे। हिंदी समेत भारतीय भाषाओं के भी वे प्रबल पक्षधर थे और यह स्वीकार नहीं करते थे कि भारत के दुनिया में रहने के लिए अंग्रेजी अब अपरिहार्य हो गई है।

कपूर साहब समाजवादी विचारक होने के साथ हिंदी साहित्य के रचनाकार भी थे। उन्होंने उपन्यास, कहानी, कविता, निबंध आदि विधाओं में कई पुस्तकों की रचना की है। उन्होंने बाल साहित्य भी लिखा है। उनकी साहित्यिक दृष्टि के बारे में कहा जा सकता है कि वे साहित्य की सामाजिकता के साथ व्यक्ति स्वातंत्र्य के भी पक्षधर थे।

कपूर साहब को कई सरकारी एवं दलित-आदिवासी संस्थाओं की तरफ से सम्मान मिला था। कुछ ही दिन पहले 23 मार्च को उत्तर प्रदेश सरकार ने उन्हें प्रतिष्ठित 'यश भारती' सम्मान से सम्मानित किया। वे हमारे बीच कुछ वर्ष और रहते तो कुछ और महत्वपूर्ण काम कर पाते। वैचारिक दृढ़ता के साथ अत्यंत मृदुल स्वभाव उनके व्यक्तित्व की विशिष्ट पहचान थी।

किस्सा एक मॉल का

यानी महंगी जमीन के महाघोटाले और शहरी गरीबों पर जुल्म का

मध्यप्रदेश के रीवा शहर के बीच में, सिरमौर चौराहे के पास, नरेन्द्रनगर में, करीब पौने चार एकड़ सरकारी भूमि समदड़िया बिल्डर्स को मॉल और शॉपिंग काम्प्लेक्स बनाने के लिए दी गई है। इस भूमि पर करीब 50 सरकारी क्वार्टर्स हैं, गरीबों के 19 मकान हैं, और करीब 200 छोटे-छोटे दुकानदार हैं जो ठेले, गुमटी या जमीन पर अपनी दुकान लगाते हैं। इसी जमीन पर रोज सब्जी बाजार लगता है। मॉल बनाने और गरीबों को उजाड़ने के विरोध में तथा समुचित पुनर्वास की मांग को लेकर 'गरीब बचाओ संघर्ष समिति' बनी और गफूर खान उसके संयोजक बने। इस समिति ने समाजवादी जन परिषद, नारी चेतना मंच और विंध्याचल जन आंदोलन के साथ मिलकर 30 जनवरी 2013 से प्रस्तावित मॉल के स्थान पर गांधी और आंबेडकर की तस्वीर रखकर धरना शुरू किया। तब से यह धरना लगातार चल रहा था। बीच में एक बार बिल्डर ने काम शुरू करने की कोशिश की, तो वे रास्ते में बैठ गए और रास्ता रोक दिया। एक बार रात में बिल्डर की मशीनों ने खुदाई करके बड़ा गड्ढा कर दिया, तो आंदोलनकारी गड्ढे में जाकर बैठ गए और कहा कि हम यहीं समाधि लेंगे। काम रुक गया। इस तरह से सत्याग्रह करते हुए लगातार 56 दिन तक धरना चलता रहा।

जांच दल के सदस्य:

- 1) सुनील, राष्ट्रीय उपाध्यक्ष, समाजवादी जन परिषद, होशंगाबाद
- 2) माधुरी बहन, जागृत आदिवासी दलित संगठन, बड़वानी
- 3) पंकज सिंह, ग्रीनपीस इंडिया, सिंगरोली

की बात करने लगा। धरने में मौजूद स्त्री-पुरुषों ने उसे रोका तो वह उनसे मारपीट करने लगा। इतने में उसके साथी और लोग आ गए तथा आंदोलनकारियों से मारपीट करना शुरू कर दी। उनमें से एक ने कढ़ी के बड़े बरतन से बाल्टी से गरम कढ़ी निकालकर लोगों पर फेंकना शुरू की। इससे तीन महिलाएं (विमलेश गुप्ता, श्यामा गुप्ता, सुनीता कुशवाहा) गंभीर रूप से जल गईं तथा कई अन्य लोगों पर भी गरम कढ़ी के छीटें पड़े। सत्या नामक नौ वर्ष की एक बच्ची के हाथ में चोट आई। विमलेश गुप्ता को संजय गांधी अस्पताल में भरती किया गया। वह पीठ, बांहों, छाती और चेहरे पर बुरी तरह से जली थी।

हमले व मारपीट की इस घटना के तुरंत बाद पुलिस आ गई वह हमलावर गुंडों तथा गरीब बचाओ संघर्ष समिति के संयोजक गफूर खान को पकड़ कर ले गई। जली हुई महिलाओं को अस्पताल ले गई और उनकी मेडिकल जांच कराई।

इसके बाद रात को करीब ढाई-तीन सौ पुलिस जवानों ने धरना-स्थल को घेर लिया और नौ आंदोलनकारियों को गिरफ्तार कर लिया। पंडाल जब्त कर लिया। इसके बाद वहां पर बिल्डर द्वारा मशीनों से खुदाई का काम शुरू हो गया।

उल्टे चोर कोतवाल को डाँटे

उल्टे चोर कोतवाल को डाँटे

रीवा सिविल लाईन थाना में दोनों पक्षों की शिकायत पर दो आपराधिक मामले दर्ज किए गए हैं और दोनों पर एक सी धाराएं लगाई गई हैं -

भारतीय दंड संहिता की धारा 341

(गलत रोकना), 294 (गाली गलौज), 323 (चोट पहुंचाना) 506 (धमकी), 34 (भीड़ के अपराध में शामिल होना)।

इन दोनों मामलों में जमानती धाराएं होने से सभी मुलजिम्हों को थाने से ही जमानत पर छोड़ दिया गया है।

लेकिन एक और प्रकरण दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 151, 107, 109, 116 (3) के तहत बनाया गया, जिसमें नौ आंदोलनकारियों को गिरफ्तार करके रीवा केन्द्रीय जेल में बंद कर दिया गया। इनमें से एक महिला भी है।

सबसे हैरानी की बात यह है कि शांतिपूर्ण आंदोलनकारी स्त्री-पुरुषों पर हमला हुआ और उल्टे उन्हीं को आरोपित करके जेल भेज दिया गया। गंभीर रूप से महिलाओं के जलने पर भी गुंडों पर बहुत हल्की धाराएं लगाईं। पुलिस व प्रशासन ने इस मामले को विस्थापितों के आपसी विवाद और मारपीट का मामला बताने और बनाने की कोशिश की।

कुल मिलाकर, यह पूरा घटनाक्रम प्रायोजित लगता है जो कतिपय गुंडों, दलालों, बिल्डर, पुलिस, प्रशासन व स्थानीय मंत्री द्वारा रचा गया ताकि आंदोलनकारियों को हटाकर, आतंकित करके, बिल्डर का काम शुरु किया जा सके। इस ज्यादती के विरोध में 1 अप्रैल को कई दलों व संगठनों ने 'रीवा बंद' का आयोजन किया और 'समदड़िया भगाओ, रीवा बचाओ' का नारा दिया।

जमीन का महा घोटाला

रीवा कलेक्टर के मुताबिक समदड़िया को यह जमीन मध्यप्रदेश सरकार के आवास एवं पर्यावरण मंत्रालय की शहरों के पुनर्घनीकरण (रिडेन्सीफिकेशन) योजना के तहत दी गई है। कुल 15,000 वर्ग मीटर जमीन है, जिसका मूल्य कलेक्टर गाईडलाईन के मुताबिक 34 करोड़ रु. होता है। टेंडर बुलाने के बाद समदड़िया को यह जमीन 37 करोड़ रु. में दी गई है। लेकिन उसे इतना पैसा नगद सरकार को नहीं देना होगा। 12 करोड़ रु. के बदले में वह एक दूसरी भूमि पर नया कलेक्टर कार्यालय बनाकर देगा और 6 करोड़ रु. के बदले 54 सरकारी फ्लैट वाला भवन बनाकर देगा। शेष 19 करोड़ रु. ही उसे शासन को देना होगा। उसे मॉल के साथ एक हॉकर कॉर्नर भी बनाना होगा, जिसमें केवल पंद्रह लोगों को छोटी दुकानें दी जाएगी।

आंदोलन के नेता और समाजवादी जन परिषद के पूर्व प्रदेश अध्यक्ष अजय खरे का मानना है कि समदड़िया

मॉल बनाने के पीछे काफी बड़ा जमीन घोटाला है। उनका कहना है कि रीवा के सिविल लाईन इलाके में इस वक्त जमीन का दाम एक लाख रु. प्रति वर्गफुट है। इस हिसाब से यह जमीन करीब 1700 करोड़ की है। उनका कहना है कि रीवा में नेताओं, अफसरों और बिल्डरों की मिलीभगत से जमीन की लूट चल रही है और इसमें शहर के मेहनतकश गरीबों का हक मारा जा रहा है। यदि इस आकलन में कुछ अतिशयोक्ति हो, तो भी इसमें शक नहीं कि रीवा महानगर के बीच की सबसे खास जगह की 15,000 वर्गमीटर जमीन चार-पांच सौ करोड़ रु. से कम की नहीं होगी। इसे केवल 37 करोड़ रु. में समदड़िया को देने में जमीन का महाघोटाला नजर आता है। अरबों रुपए के इस वारे-न्यारे में कुछ करोड़ रु. मंत्रियों व अफसरों में बंटा होगा, तो कोई अचरज की बात नहीं। इस मॉल के खिलाफ आंदोलन को दबाने और उसके खिलाफ साजिशें रचने में प्रशासन की मुस्तैदी व सहयोग के पीछे भी संभवतः यही राज छिपा है।

सराफा व्यापारी से रातों रात बड़ा बिल्डर

समदड़िया मूलतः जबलपुर का एक सराफा (सोने-चांदी का) व्यापारी है। पिछले कुछ सालों में बिल्डर और जमीन-जायदाद के बड़े कारोबारी के रूप में वह तेजी से उभरा है। जबलपुर में समदड़िया के द्वारा समदड़िया शॉपिंग कॉम्प्लेक्स, समदड़िया ग्रीन सिटी, समदड़िया रेसिडेन्सी, समदड़िया आस्थानगर, समदड़िया होटल आदि कई कॉलोनियां व इमारतें बनाई गई हैं। जबलपुर के पास एक कोयला आधारित बिजली कारखाना भी समदड़िया द्वारा लगाने का प्रस्ताव है। यह साफ दिखाई दे रहा है कि भाजपा शासनकाल में इसे खास तौर पर फलने-फूलने का मौका मिला है। शायद समदड़िया मॉल की लूट का रास्ता आसान करने के लिए ही रीवा का प्रभारी मंत्री जबलपुर के अजय विश्णोई को बनाया गया है, जो स्वयं भ्रष्टाचार के कई आरोपों से घिरे हैं।

जमीन की बंदरबांट और कुछ सवाल

शहरों के पुनर्घनीकरण (रिडेन्सीफिकेशन) योजना पर भी इस संदर्भ में बड़े सवाल उठते हैं। भोपाल व अन्य शहरों में भी इस योजना में इस तरह के खेल हुए हैं। यह योजना मध्यप्रदेश के शहरों में महंगी जमीन के बड़े-बड़े घोटालों व हेराफेरी की योजना बन गई है। वैश्वीकरण-

उदारीकरण-निजीकरण का दौर शुरू होने के बाद इस देश में जमीन-जायदाद-निर्माण के धंधे में जबरदस्त तेजी आई है। समदड़िया मॉल जैसे मामलों से पता चलता है कि इस तेजी के पीछे सार्वजनिक संसाधनों की इसी तरह की लूट, छीनाझपटी और भ्रष्टाचार छिपा है और यह देशहित व जनहित में नहीं है।

इस लूट व बंदरबांट में शहर के गरीब और छोटे लोगों के हित पूरी तरह भुला दिए जाते हैं और उन पर जुल्म भी किए जाते हैं। विडंबना यह है कि इस घटना के कुछ दिन पहले मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री ने घोषणा की थी कि शहरों के गरीब अतिक्रमणकारियों को उसी स्थान के पट्टे दिए जाएंगे। कथनी और करनी में गहरे विरोध की यह एक और मिसाल है।

सवाल यह है कि स्वदेशी और भारतीय संस्कृति की बात करने वाली भारतीय जनता पार्टी की सरकार मॉल संस्कृति को क्यों बढ़ावा दे रही है ? एक तरफ तो वह खुदरा व्यापार में विदेशी कंपनियों के प्रवेश का विरोध कर रही है, दूसरी तरफ वह देशी छोटे दुकानदारों, हॉकरों और गरीब घरों को मिटाकर अमीरों के लिए मॉल बनाने पर क्यों आमदा है ? मॉल ज्यादा जरूरी है या गरीबों की रोजी और झोपड़ी ?

सवाल यह भी है कि आजादी के 66 साल बाद भी इस देश के हर नागरिक को एक छत का अधिकार मिलेगा या नहीं ? मेहनत करके अपनी रोजी-रोटी चलाने का हक भी मिलेगा या नहीं ?

बिहार में शिक्षकों पर लाटियां

रणजीत कुमार

बिहार के विकास की चर्चा देश ही नहीं पूरी दुनिया भर में हो रही है। लेकिन शिक्षा के गुणात्मक विकास के संदर्भ में यह सच्चाई से कोसों दूर है। एक तरफ नालंदा विश्वविद्यालय की पुनर्स्थापना के लिए राज्य सरकार अपनी पीठ थपथपा रही है। वहीं दूसरी तरफ राज्य की प्राथमिक शिक्षा और शिक्षक हाशिए पर आ गए हैं। शिक्षा से पीढ़ियों का निर्माण होता है। पुल तथा सड़कें टूटती हैं तो उनका पुनः निर्माण हो जाता है, लेकिन पीढ़ियों के टूटने पर उनका फिर से निर्माण नहीं किया जा सकता है। पिछले दिनों पटना में 'समान कार्य समान वेतन' की मांग को लेकर शांतिपूर्ण प्रदर्शन कर रहे शिक्षामित्रों पर बिहार पुलिस ने बर्बर लाठीचार्ज करके बिहार को पुनः राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर पर शर्मसार कर दिया। पुलिस ने महिला शिक्षकों को भी नहीं बख्शा। सैकड़ों शिक्षक घायल हुए। चालीस नियोजित शिक्षकों को जेल भेजा गया। लंबे अनशन के कारण गंभीर रूप से बीमार शिक्षामित्रों पर भी हथियार छीनने का झूठा मुकदमा दायर किया गया है।

नियोजित शिक्षकों का आंदोलन परिवर्तनकारी प्रारंभिक शिक्षक संघ के बैनर तले 21 फरवरी से पटना के

आर ब्लाक चौराहे पर शांतिपूर्ण प्रदर्शन से शुरू हुआ। सरकार द्वारा सकारात्मक पहल नहीं होने के कारण शिक्षकों ने आमरण अनशन शुरू किया। शिक्षकों ने वार्ता के लिए शिक्षामंत्री के आवास के घेराव के साथ-साथ मुख्यमंत्री की तस्वीर लगाकर हवन-पूजन भी किया। 25 फरवरी यानी आंदोलन के पांचवे दिन तक भी सरकार द्वारा सुध नहीं लेने पर अनशनकारी शिक्षकों ने अपने खून से पत्र लिखकर वार्ता के लिए आग्रह किया। सत्ता एवं विपक्ष के विधान पार्षदों ने भी विधान परिषद के सभापति से वार्ता कराने का आग्रह किया। सभापति के निर्देश के बावजूद अनशनकारियों से वार्ता करने के बदले 27 फरवरी को प्रातः उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। विधान परिषद में विपक्षी सदस्यों ने जोरदार ढंग से मामले को उठाया, जिसके कारण रात्रि 9 बजे अनशनकारियों को रिहा करना पड़ा। पुनः शिक्षकों ने आर. ब्लाक चौराहा लौटकर अनशन जारी रखा। नियोजित शिक्षकों के एक अन्य संगठन बिहार पंचायत नगर प्रारंभिक शिक्षक संघ ने भी अनशनकारियों के समर्थन में पटना में प्रदर्शन तथा अगले दिन भिक्षाटन किया। 2 मार्च को शिक्षकों द्वारा अनशनकारियों के समर्थन

में वार्ता करने की मांग को लेकर उपमुख्यमंत्री सुशील कुमार मोदी एवं भूमि सुधार एवं राजस्वमंत्री रमई राम के आवास का घेराव किया पर सरकार ने वार्ता के लिए पहल नहीं की। अनशनकारियों की बिगड़ती हालत को देखकर 4 मार्च को पुनः विधान परिषद में सदस्यों ने हंगामा किया। सभापति ने सदस्यों का एक शिष्ट मंडल 'मांगपत्र' के लिए अनशनकारी शिक्षकों के पास भेजा। शिक्षकों ने शिष्टमंडल को अपना मांग पत्र सौंपा, पर उसी दिन रात में पुलिस ने सभी अनशनकारी शिक्षकों को गिरफ्तार कर पटना से 20 किलोमीटर दूर बिंदेश्वरी सिंह कॉलेज दानापुर में डाल दिया।

शिक्षकों की पिटाई

वार्ता के बजाय बार-बार गिरफ्तारी के कारण पूरे बिहार के नियोजित शिक्षकों में उबाल आ गया और अगले दिन 5 मार्च को पुनः पटना में नियोजित शिक्षकों ने विशाल प्रदर्शन किया। पूर्वाग्रह से ग्रसित एवं सोची समझी राजनीति के तहत 'सुशासन' की पुलिस ने प्रदर्शकारियों पर पानी के फव्वारे छोड़े एवं आंसू गैस के गोले दागे एवं निहत्थे शिक्षकों एवं शिक्षिकाओं पर बर्बरतापूर्वक लाठीचार्ज किया। महिला शिक्षिकाओं के साथ अभद्र व्यवहार किया गया। पुलिस ने शिक्षकों की दर्जनों गाड़ियों को तोड़कर क्षतिग्रस्त कर दिया। कई गाड़ियों में आग लगाई गई। सरकारी गाड़ी में भी स्वयं पुलिस ने आग लगाई ताकि शिक्षकों को फंसाया जा सके। पुलिस ने अस्पताल प्रबंधन से मिलकर गंभीर रूप से घायल शिक्षकों के इलाज से संबंधित सारे साक्ष्य नष्ट कर दिए। शिक्षकों पर लाठीचार्ज की घटना एवं महिला शिक्षिकाओं के साथ इतना अमानवीय व्यवहार था कि सर्वोच्च न्यायालय ने

तुरंत संज्ञान लिया और सरकार को दो सप्ताह के अंदर जवाब देने को कहा।

नियोजित शिक्षक संघ के आंदोलनों को पुराने शिक्षकों के संघ - प्राथमिक शिक्षक संघ, माध्यमिक शिक्षक संघ एवं गोप गुट शिक्षक संघ का समर्थन मिला।

वेतन में घोर विषमता

तालिका-1 से स्पष्ट है कि बिहार के प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालयों में पांच तरह के शिक्षक कार्यरत हैं। सबसे पुराने शिक्षकों को 25,000 से 40,000 रु., बिहार लोकसेवा आयोग से चयनित शिक्षकों को 24,000 से 28,000 रु. और न्यायालय के आदेशानुसार नियुक्त प्रशिक्षित शिक्षकों को 22,000 रु मिलते हैं। वहीं 2003, 2005, 2007 एवं 2010 में नियुक्त नियोजित प्रशिक्षित प्रखण्ड/पंचायत एवं नगर शिक्षकों को प्रति माह मात्र 7300 रु. तथा अप्रशिक्षित नियोजित प्रखण्ड/पंचायत एवं नगर शिक्षकों को मात्र 6300 रु. प्रति माह मिलते हैं। तालिका से स्पष्ट है कि वेतनमान पर नियुक्त शिक्षक एवं मानदेय पर नियुक्त पंचायत/प्रखण्ड नगर शिक्षक के पारिश्रमिक में घोर विषमता है। यह पांच गुना से भी ज्यादा है।

वेतनमान पर नियुक्त शिक्षक को सेवानिवृत्ति लाभ के रूप में एक मुश्त 20 लाख रु. मिलते हैं। इसके अलावा प्रति माह 12 से 15 हजार रु. पेशन मिलेगी। नियोजित शिक्षक को यह सुविधा अभी नहीं मिली है।

नियोजित शिक्षकों का मानदेय भुगतान चेक से होता है। पंचायत कार्यालय से लेकर जिला शिक्षा पदाधिकारी कार्यालय में फैले भ्रष्टाचार के कारण चेक

तालिका-1 : शिक्षकों के वेतनमान एवं मानदेय में विषमता

पैनल द्वारा नियुक्त पुराने शिक्षकों का वेतनमान (प्रतिमाह रु. में)	बी.पी.एस.सी. द्वारा चयनित शिक्षकों का वेतनमान	न्यायालय के आदेशानुसार नियुक्त प्रशिक्षित शिक्षकों का वेतनमान	प्रशिक्षित प्रखण्ड/पंचायत एवं नगर नियोजित शिक्षकों का मानदेय	अप्रशिक्षित पंचायत/प्रखण्ड नगर शिक्षकों का मानदेय
25,000 से 40,000	24,000 से 28,000	22,000	7300	6300

कभी भी समय पर नियोजन इकाई में नहीं पहुंचता है। बैंक से मानदेय मिलने से पूर्व पंचायती राज संस्थाओं के प्रमुख मुखिया व अन्य के साथ बी.डी.ओ., बी.ई.ओ. और पंचायत सचिव की मत-भिन्नता भी नियमित भुगतान में बाधक बनती है। अंततः इन सब का दुष्परिणाम नियोजित शिक्षकों को ही भुगतान पड़ता है। आज राज्य के कई जिलों में प्रखण्ड पंचायत/नगर शिक्षकों को 8 महीनों से भुगतान नहीं हुआ है। आठ-आठ महीनों से मानदेय से वंचित रहने पर नियोजित शिक्षक मानसिक रूप से काफी तनाव में जीवनयापन करते हैं।

अन्य तकलीफें

2.59 लाख नियोजित शिक्षकों में से करीब 1 लाख से अधिक अपने-अपने प्रखण्डों एवं जिलों से बाहर हैं। बेतिया का शिक्षक अररिया, अररिया का शिक्षक सीतामढ़ी, सीतामढ़ी का शिक्षक किशनगंज में कार्यरत है। कभी-कभी घर से दूरी 400 किलोमीटर से अधिक हो जाती है। मात्र 6 से 7 हजार रुपए के मानदेय में जीवनयापन कैसे होता होगा?

पंचायत राज के विभिन्न पदों पर होने वाले चुनाव में बिहार सरकार 50 प्रतिशत आरक्षण महिलाओं को देकर महिला सशक्तिकरण का दावा करती है। पर नवयुवती एवं शादीशुदा नियोजित महिला शिक्षिका को पिछले साल 9 वर्षों के संघर्ष के बाद विशेष अवकाश मिल पाया। दूसरी तरफ पुरानी महिला शिक्षिका 55 साल के उम्र होने के बाद भी विशेष

अवकाश का उपभोग कर रही हैं। नियोजित महिला शिक्षिका की शादी खतरे में हैं क्योंकि पति कहीं और है तो पत्नी कहीं और।

तालिका-2 से स्पष्ट है कि पिछले दशक 1991 से 2001 के बीच बिहार की साक्षरता दर में 8.52 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। वहीं नियोजित शिक्षकों की नियुक्ति के बाद 2001 से 2011 के बीच में 16.82 प्रतिशत की वृद्धि हुई। महिला साक्षरता दर में 20.23 प्रतिशत की वृद्धि हुई। अक्षर आंचल योजना के तहत 20 लाख दलित शिक्षकों ने ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

नियोजित शिक्षकों की वेतनमान की मांग पर मुख्यमंत्री नीतीश कुमार कहते हैं कि शिक्षकों की मांग को पूरा करना किसी के कुव्वत में नहीं है। केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा शिक्षा की लगातार उपेक्षा के कारण देश में प्राथमिक शिक्षा की स्थिति खराब होती जा रही है। असल में बिहार सरकार सहित अधिकतर सरकारों ने विकास के मापदंड ही बदल दिए हैं। अब सड़कों, विद्युत, पुल-पुलिया का निर्माण, सयंत्र तथा उद्योगों की स्थापना तथा मीडिया में ज्यादा से ज्यादा प्रचार-प्रसार को ही विकास माना जा रहा है। जबकि हकीकत है कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की व्यवस्था किए बिना बिहार का विकास संभव नहीं है। बिहार सरकार को विकास की नीतियों में शिक्षा एवं शिक्षकों को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी ही चाहिए तभी सरकार का समावेशी विकास का सपना पूरा हो पाएगा।

- ग्राम लौतन, पो. मुरौल, जिला मुजफ्फरपुर,
बिहार 843121, फोन 09931480539

तालिका-2 : बिहार की साक्षरता दर (प्रतिशत में)

जनगणना वर्ष	बिहार			संपूर्ण भारत		
	व्यक्ति	पुरुष	महिला	व्यक्ति	पुरुष	महिला
1991	38.48	52.49	22.89	52.19	64.20	39.19
2001	47.00	59.70	33.10	64.8	75.30	53.70
2011	63.82	73.39	53.33	74.04	82.14	65.46

संग्राम जिंदगी है, लड़ना उसे पड़ेगा

लिंगराज

ओडिशा में दक्षिण कोरिया की कंपनी पोस्को (पोहाग स्टील कंपनी) के खिलाफ जोरदार आंदोलन चल रहा है। 'पोस्को प्रतिरोध संग्राम समिति' के बैनर तले जारी जन आंदोलन ने कंपनी को रोकने में कामयाबी हासिल की है। पिछले पांच साल से कंपनी का काम शुरू न होने के कारण कंपनी के करार की अवधि समाप्त हो गई है। यह करार 2010 जून में समाप्त हो गया है। अब तक इस प्रोजेक्ट का नवीनीकरण नहीं हो पाया है।

इस बीच प्रोजेक्ट के लिए पर्यावरण अनुमति से संबंधित मामला भी ग्रीन ट्रिब्यूनल में लटक गया है। प्रोजेक्ट के लिए आवश्यक लौह अयस्क के लिए खंडाधार पर्वत को लीज देने का मसला भी सुप्रीम कोर्ट में लंबित है। उल्लेखनीय है कि देश के सबसे बड़े विदेशी निवेश (52 हजार करोड़ रुपए)

का दावा करते हुए पोस्को के साथ ओडिशा सरकार ने जून 2000 में करार किया था। इस करार के मुताबिक 1 करोड़ 20 लाख टन इस्पात उत्पादन करने वाला एक कारखाना स्थापित किया जाना है। ओडिशा के तटीय जिले जगतसिंहपुर में स्थित पारादीप बंदरगाह के पास तीन गांवों (दिंकिया, गड़कुगंज और नूआगांव) के करीब 10 हजार लोगों को बेदखल कर यह स्टील प्लांट प्रस्तावित है।

इस सबके बावजूद राज्य सरकार की ओर से पोस्को के प्रस्तावित कारखाने के लिए किसानों से बलपूर्वक जमीन अधिग्रहण की कोशिशें की जा रही हैं। राज्य के मुख्यमंत्री नवीन पटनायक बार-बार कहते रहे हैं कि उनकी सरकार शांतिमय औद्योगीकरण के लिए समर्पित

है। लेकिन जब भी उनकी सरकार प्रस्तावित इलाके में भूमि अधिग्रहण के लिए प्रवेश करती है तो बड़ी संख्या में सशस्त्र पुलिस दल-बल साथ होता है। आंदोलन को तोड़ने के लिए कंपनी और सरकार की ओर से साम, दाम, दंड, भेद की नीति अपनाई जा रही है।

लेकिन सरकार के दमनकारी रवैये के बावजूद गत साढ़े सात साल से पोस्को के खिलाफ जबरदस्त प्रतिरोध जारी है। इस आंदोलन की विशेषता है कि राज्य सरकार

और कंपनी समर्थक ताकतों की कोशिश व उकसाने की कार्रवाई के बावजूद ये लोग लोकतांत्रिक व शांतिमय तरीके से आंदोलन कर रहे हैं।

इस आंदोलन का प्रमुख केंद्र प्रस्तावित इलाके की पंचायतों में एक दि किया पंचायत रही है। इस गांव में

पोस्को प्रतिरोध संग्राम समिति के अध्यक्ष अभय साहू अपने साथियों के साथ डेरा डाले हुए हैं। संघर्ष के हर दौर में इस गांव के लोग संगठित होकर और सजग रहकर गांव में कंपनी के किसी आदमी को घुसने नहीं देते हैं। गत वर्ष सितंबर-अक्टूबर में बलपूर्वक भू अधिग्रहण के खिलाफ सैकड़ों लोगों ने बालू में लेटकर आंदोलन किया था जिसमें स्कूली बच्चे भी शामिल थे। इस दौरान बड़ी संख्या में सशस्त्र पुलिस बल तैनात किया गया था।

हाल ही में मार्च माह के अंतिम सप्ताह में एक बार फिर बलपूर्वक भू अधिग्रहण की कोशिश की गई। इसके लिए कलेक्टर और एसपी के नेतृत्व में सैकड़ों सशस्त्र पुलिस तैनात कर किसानों से भू अधिग्रहण की प्रक्रिया शुरू हुई। इस दौरान 2 अप्रैल को एक बम विस्फोट की



घटना में गोविंदपुर गांव के तीन आंदोलन समर्थकों (तरुण मंडल, नरहरि साहू और मानस जेना) की मौत हो गई। लक्ष्मण मंडल बुरी तरह घायल हो गए, जिन्हें अस्पताल में भर्ती करना पड़ा। विस्फोट स्थल से कुछ ही दूरी पर पुलिस तैनात थी, लेकिन सूचना के बावजूद कई घंटों बाद भी वह घटना स्थल पर नहीं पहुंची। गौरतलब है कि घटना के मात्र एक घंटे बाद ही बिना तहकीकात किए एसपी ने बयान दिया कि बम बनाते हुए आंदोलनकारी विस्फोट में मारे गए। जबकि पोस्को संग्राम समिति की ओर से घटना की निष्पक्ष जांच मांग की गई है। दावा है कि कंपनी समर्थक तत्वों की यह हरकत थी।

यह पहली घटना नहीं है जब आंदोलनकारियों पर हमला हुआ है। 20 जून 2008 को भी जब आंदोलनकारी समुद्र तट पर जटाधरा मुहान के पास एक पुराने केनाल की मरम्मत कर गोविंदपुर गांव से गुजर रहे थे तब कंपनी समर्थकों ने उन पर बम फेंका था जिसमें तपन मंडल नामक कार्यकर्ता की मौत हो गई थी। इस घटना में कोई कार्रवाई नहीं हुई।

इसी प्रकार अप्रैल-जून 2010 में पोस्को प्रतिरोध

संग्राम समिति की ओर से तालिटूट नामक जगह पर लगातार 90 दिन से ज्यादा समय धरना दिया गया था। एक दिन पुलिस की मौजूदगी में कंपनी समर्थक गुंडों ने धरना स्थल पर बैठे लोगों पर बम फेंका। हालांकि इसमें जानमाल की कोई हानि नहीं हुई लेकिन आतंक का माहौल बन गया था। वर्ष 2011 में पारादीप ढिंकिया के बीच इंडस्ट्रियल कॉरिडोर के निर्माण का आंदोलनकारी विरोध कर रहे थे तब उनपर बम फेंका जिसमें उल्टे कंपनी समर्थक गुंडे की ही मौत हो गई। इस तरह आंदोलन को कुचलने का प्रयास होता रहा है।

आतंक और दम के इस माहौल में अपनी 'मां-माटी' को बचाने का यह आंदोलन जारी है। मुख्यमंत्री नवीन पटनायक भी पोस्को के स्वार्थ की रक्षा कर रहे हैं, क्योंकि 52 हजार करोड़ के पूंजी निवेश का सवाल है। लेकिन यहां के लोगों के हौसले बुलंद हैं। उनकी जुबान पर उक्त गीत की धुन सवार दिखाई देती है, 'संग्राम जिंदगी है लड़ना उसे पड़ेगा, जो लड़ नहीं सकेगा आगे नहीं बड़ेगा।' - समता भवन, बरगढ़, ओडिशा

फोन 09437056029

जीरो बजट खेती का शिविर

सोमनाथ त्रिपाठी

23-26 फरवरी 2013 को पूर्वांचल कृषिजीवी संगठन ने उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के खोरमा-कन्हौली गांव में 'बिना लागत प्राकृतिक खेती' के चार दिवसीय प्रशिक्षण-शिविर का आयोजन किया। इसमें स्थानीय जिले के किसानों के अलावा पूर्वांचल एवं पश्चिम बिहार के 200 से अधिक किसानों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया।

23 फरवरी 2013 को प्रशिक्षण के उद्घाटन-सत्र में आयोजक प्रो.सोमनाथ त्रिपाठी ने शिविर की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए कहा कि देश की कृषि व्यवस्था आज गहरे संकट में है। रासायनिक खाद और कीटनाशक के बेहद महंगे होने, कृषि उपज में लागत बढ़ने, उपज का वाजिब दाम न मिलने से किसान निराश होकर किसानों से पलायन कर रहे हैं। इसी कारण खाद, बीज आदि के लिए विदेशी कंपनियों के चंगुल में फंसकर और भारी कर्ज से

परेशान होकर देश के विकसित कहे जाने वाले प्रदेशों के किसान आए दिन आत्महत्या कर रहे हैं। श्री त्रिपाठी ने यह भी कहा कि तथाकथित हरितक्रांति से पैदा जहरयुक्त खाद्यान्न का ही परिणाम है हार्टअटैक, किडनीफेल, ब्लडशुगर, कैंसर आदि जानलेवा बीमारियां। इन सभी समस्याओं का एक मात्र इलाज है- बिना लागत आध्यात्मिक प्राकृतिक खेती। खेती की यह विधि कृषिजीवी समाज के लिए एक विकल्प है जिसमें किसी से एक पैसा नहीं लेना है और न ही बाजार को पैसा देना है।

शिविर का उद्घाटन करते हुए श्री योगेन्द्र यादव ने कहा कि किसान, कृषि और गांव बहुत बड़े संकट से गुजर रहे हैं। श्री पालेकर जी कृषि पद्धति का विकल्प मात्र नहीं दे रहे हैं बल्कि इस पद्धति को अपनाने से किसान और गांव आत्मनिर्भर बनेंगे। आत्मनिर्भर बनेंगे तो

व्यवस्था द्वारा किए जा रहे शोषण के खिलाफ सही दिशा में अपनी आवाज भी बुलंद कर सकेंगे। 1980 के दशक में किसानों का जबर्दस्त आंदोलन हुआ था परंतु उसकी कोई वैचारिक दृष्टि नहीं बनने से किसान संगठन कुंद हो गया। राजनीति, सत्ता व व्यवस्था मिलकर गांव को और देश को लूट रहे हैं।

श्री यादव ने कहा कि भारत के किसान भविष्य की गोधूलि वेला में खड़े हैं। अब तक की सरकारों ने किसानों के साथ छल किया है, उनको आजादी के बाद वाजिब हक नहीं मिला है। इसके लिए पूंजीवादी व्यवस्था उत्तरदायी है। अतः किसान जब तक वैकल्पिक राजनैतिक संगठन के रूप में अपने को मजबूत नहीं करेगा तब तक समग्र गांव का विकास संभव नहीं है। अब किसान को राजनीति की लगाम अपने हाथों में लेनी होगी। खेती पर विदेशी कंपनियों निगाहें लगाई हुई हैं। किसानों को उसे रोकने के लिए कृषि पद्धति को बदलने के साथ-साथ परंपरागत मांगों को छोड़कर अब बिना खर्च प्राकृतिक खेती की व्यवस्था लागू करने, भूमि अधिकार प्राप्त करने, स्थानीय रोजगार सृजन करने, न्यूनतम खाद्यान्न सुरक्षा गारंटी भत्ता देने की नई मांगों के साथ रक्षात्मक राजनीति छोड़कर आक्रामक राजनीति करने की जरूरत है।

शिविर में मुख्य प्रशिक्षक सुभाष पालेकर जी ने जीरो बजट आध्यात्मिक प्राकृतिक खेती की पृष्ठभूमि एवं विधि पर प्रकाश डालते हुए कहा कि अध्यात्म का अर्थ है खुद को ईश्वर से जोड़ना। ईश्वर कहां है? ईश्वर को किसने देखा है? वास्तव में ईश्वर देखने की चीज नहीं है बल्कि महसूस करने की बात है। ईश्वर क्या है? मूर्ति ईश्वर नहीं है। मूर्ति तो मनुष्य ने बनाई है इसलिए ईश्वर में श्रद्धा करें, लेकिन मूर्ति में नहीं। वास्तव में प्रकृति ईश्वर का संविधान है। अर्थात् जो प्रकृति में है, वह अस्तित्व में है, वही ईश्वर का कायदा-कानून है। ईश्वर को जानने के लिए प्रकृति को जानना जरूरी है। ईश्वर ने प्रकृति को भेजा है और उसके साथ सहजीवनके लिए प्राणियों को भेजा है। जल-जंगल-जमीन ही ईश्वर है।

उन्होंने कहा कि बच्चे ने जन्म लिया तो मुट्ठी बंद करके आया। उस मुट्ठी में दो दायित्व आए। पहला- पीड़ित, शोषित और बहिष्कृत लोगों के लिए काम करो। दूसरा- जो प्रकृति है उसका विनाश मत करो। अगर प्रकृति से जोड़ना ही अध्यात्म है तो आज वही प्रकृति पूरी दुनिया में विनाश की ओर जा रही है। इससे ही निम्न

समस्याएं पैदा हो रही हैं-1. खाद्यान्न सुरक्षा 2. ग्लोबल वार्मिंग 3. किसानों की आत्म हत्याएं 4. भ्रष्टाचार।

हरितक्रांति आई। साठ साल पहले नेहरू ने कहा कि हम खाद्यान्न की समस्या दूर कर स्वावलंबी बनेंगे। क्या हम स्वावलंबी बन गए? नहीं। स्वावलंबन का मतलब होता है चावल, गेहूं, दलहन, तिलहन आदि सभी खाद्यान्नों का स्वावलंबन। 1947 से ही हम दाल का आयात कर रहे हैं। हर साल 40 लाख टन दलहन, लाखों टन पाम आयल, सेब आदि आयात कर रहे हैं, तो भी बोल रहे हैं कि हम स्वावलंबी बन रहे हैं। यदि देश में 25 करोड़ टन खाद्यान्न होता है तो 39 प्रतिशत लोग रोज रात को भूखे क्यों सोते हैं? पंजाब का जो किसान 30 क्विंटल पैदा करता था वह आज 15 क्विंटल भी नहीं पैदा कर पा रहा है। हर साल प्रति एकड़ उपज घट रही है। इसका मतलब भूमि की उर्वरा शक्ति प्रति वर्ष घट रही है। भटिंडा जिले के हर गांव में कैंसर रोग हुआ है। सभी समस्याएं रासायनिक और 'जैविक खाद' का परिणाम है।

इसी तरह हरित क्रांति का परिणाम पर्यावरण और स्वास्थ्य पर पड़ रहा है, जमीन पर पड़ रहा है, जल पर पड़ रहा है। ग्लोबल वार्मिंग का मतलब ही है - पर्यावरण में बदलाव, धरती गरम होना, जमीन की उर्वराशक्ति समाप्त होना। अमरीका, यूरोप और भारत ही ग्लोबल वार्मिंग के जिम्मेदार हैं। धान की कटाई, गेहूं की कटाई, गन्ने की कटाई के बाद डंठल को खेत में जला देते हैं उसी से करोड़ों टन कार्बन, नाइट्रस, नाइट्रोजन आक्साइड और मिथेन पैदा करते हैं जिससे जहर पैदा होता है। ग्लोबल वार्मिंग का दूसरा कारण 60 प्रतिशत रासायनिक खाद है। हम धुआं छोड़ते हैं और कचरे को पानी में डालते हैं। इससे वायु और जल में जहर पैदा कर रहे हैं।

श्री पालेकर ने कहा कि हरित क्रांति को लाने वाली है विश्वव्यापी शोषणकारी महाव्यवस्था। इस व्यवस्था का उद्देश्य था- (1) हमारी अर्थव्यवस्था को खत्म करना और (2) हमारी प्रकृति को समाप्त करना। किसान बीज के लिए, खाद के लिए, दवा के लिए, ट्रैक्टर के लिए, कासमेटिक के लिए शहर को पैसा देता है। शहर को केवल कमीशन मिलता है बाकी सारा पैसा बहुराष्ट्रीय कंपनियों को जाता है। गांव का कुल 54 लाख करोड़ रूपया हर साल बाहर जा रहा है। देश में 6 लाख 42 हजार गांव हैं। अगर इस रूपए को बचाते हैं तो 11 करोड़ रूपए प्रति गांव को मिलेंगे। यह सपना नहीं है। यह तब संभव है जब हम बिना लागत की प्राकृतिक खेती

करते हैं।

उन्होंने कहा कि रासायनिक एवं 'जैविक' खेती हमारे देश की नहीं है। उक्त महा शोषणकारी व्यवस्था से लड़ना है तो एक ही विकल्प है कि हम शोषणकारी व्यवस्था का एक भी सामान नहीं खरीदेंगे और जीरो बजट प्राकृतिक खेती की पद्धति अपनाकर खुशहाल बनेंगे।

श्री पालेकर ने चार दिवसीय प्रशिक्षण शिविर में बताया कि एक गाय के गोबर और गोमूत्र से 30 एकड़ तक की खेती होगी। उपज का दाम दुगुना मिलेगा क्योंकि खाद्यान जहर मुक्त तैयार होगा। देशी बीज का भंडारण हो गया है। वह सुलभ प्राप्त होगा। देश के 40 लाख किसान कम लागत की प्राकृतिक खेती कर रहे हैं।

श्री पालेकर ने खेत में महीने में एक बार दस किलो गाय के गोबर को एक एकड़ में डालने की बात कही। वह भी बीज बोने के पहले। एक ग्राम गोबर में

300 से 500 करोड़ जीवाणु होते हैं। ये जीवाणु भूमि में ट्यूमस पैदा करते हैं। उन्होंने बीज शोधन, पानी में मिलाकर जीवामृत देने और कीटनाशक तैयार करने की पूरी विधि बताई। जीवामृत का विकल्प घन जीवामृत बनाने की भी विधि बताई। बहु फसल बोने के तरीके भी बताए।

शिविर के अंतिम दिन उन्होंने कहा कि सुखी जीवन हर प्राणी को जन्मसिद्ध अधिकार है। आज पृथ्वी के अंदर फास्फेट एसिड घटते जा रहे हैं जिससे डीएपी की कमी हो गई है। जब रासायनिक खाद नहीं मिलेगा तब संकर बीज काम नहीं आएंगे। इसलिए आज किसानों की आत्म निर्भरता एवं समृद्धि के लिए देशी बीज एवं खेती की प्राकृतिक पद्धति, जो देशी गाय के गोबर और मूत्र पर आधारित है, अपना ज़रूरी हो गया है।

- अनुसंधान परिसर, संपूर्णानंद
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
फोन 09415222940

वार्ता यहां से प्राप्त करें

- सोमनाथ त्रिपाठी, अनुसंधान परिसर, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी - 221002, फोन 09415222940
- विश्वनाथ बागी, पुटकी कोलियरी, पो. कुसुंडा, जिला धनबाद, झारखंड 828116, फोन 09835131638
- लिंगराज, समता भवन, बरगढ़, ओडिशा, 768028, फोन 09437056029
- जे. पी. सिंह, जेपी मेडिकल, बेलथरा रोड, जिला बलिया, उत्तरप्रदेश फोन 09454246891
- अच्युतानंद किशोर नवीन, सत्य साहित्य, कन्हौली, शारदानगर, पो. आर के आश्रम बेला, मुजफ्फरपुर, बिहार, 843116, फोन 09470268745
- नवल किशोर प्रसाद, एडवोकेट, छोटा बरियापुर, वार्ड नं 38, पो. सिविल कोर्ट, थाना छतौनी, मोतीहारी, बिहार 845401, फोन 08271829617
- चंद्र भूषण चौधरी, भारती अस्पताल, कोकर चौक, हजारीबाग रोड, रांची, झारखंड 834001, फोन 09006771916
- रामजनम, सर्वोदय साहित्य भंडार, प्लेटफार्म नं. 4, वाराणसी कैंट स्टेशन, वाराणसी 221002, फोन 08765619982
- अमरेंद्र श्रीवास्तव, पुरानी गुदड़ी, वार्ड नं. 9, थाना-नगर, पो. बेतिया, बिहार 845438, फोन 09031670370
- चंचल मुखर्जी, मुखर्जी बुक डिपो, पांडे हवेली, वाराणसी, फोन 0542-2454257
- शिवजी सिंह, अधिवक्ता, महददीगंज, बलुआ टोला, पो. सासाराम, जिला रोहतास, बिहार 821115, फोन 09431846052
- रमाकांत वर्मा, सेक्टर 3 डी, क्वा नं.589, बोकारो स्टील सिटी, झारखंड 827003
- अल्मोड़ा किताबघर, मित्रभवन, गांधी मार्ग, अल्मोड़ा, उत्तराखंड 263601 फोन 09412092061
- दिनेश शर्मा, डी 68, ए ब्लॉक, खूंटाडीह, सोनानी, जमशेदपुर, झारखंड 831011, फोन 09431703559
- इकबाल अभिमन्यु, 28 पेरियार छात्रावास, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली 110067, फोन 09013183889
- मनोज वर्मा, इहमी कंपाउंड, पो.रामनगर, जिला पश्चिमी चंपारन, बिहार 845106
- राजेंद्र बिंदल, 137डी, पाकेट बी, दिलशाद गार्डन, दिल्ली, 110095 फोन 09266955416
- रोशनाई प्रकाशन, 212 सी. एल/ए., अशोक मित्र रोड, कांचरापाड़ा, उत्तर 24 परगना, प.बंगाल, 743145 फोन 033-25850249
- गोपाल राठी, सांडिया रोड, पिपरिया, जिला होशंगाबाद, म.प्र. फोन 09425408801

ग्राहक शुल्क भी इनके पास जमा कर सकते हैं।

अपनी भाषा में न्याय की लड़ाई

इकबाल अभिमन्यु

विगत दिनों संघ लोकसेवा आयोग की परीक्षा में अंगरेजी के अंकों को जोड़कर परिणाम देने का विरोध होने तथा यह फैसला वापस लिए जाने से अंगरेजी बनाम भारतीय भाषाओं का मसला एक बार फिर चर्चा में आ गया है। लेकिन इससे अधिक महत्वपूर्ण एक भाषाई अधिकार के सवाल पर दिल्ली में विगत एक सौ पैंतीस दिन से भी अधिक समय से चल रहे आंदोलन पर मीडिया की निगाह नहीं है।

श्याम रूद्र पाठक, अपने साथियों गीता मित्र तथा विनोद कुमार पांडेय के साथ 4 दिसंबर 2012 से दिल्ली में कांग्रेस के दफ्तर के बाहर इस मांग को लेकर धरने पर बैठे हैं कि देशवासियों को न्याय उनकी अपनी भाषा में मिले। सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में भारतीय भाषाओं में काम हो।

दरअसल भारतीय संविधान के अनुच्छेद 348 के खंड ख में कहा गया है कि सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में कामकाज की भाषा सिर्फ अंगरेजी होगी।

जिसे देश में सिर्फ पांच फीसदी लोग अंगरेजी बोल सकते हैं, वहां यह व्यवस्था निहायत ही अभिजात्य और अन्यायी है। इससे कानून की व्याख्या, न्याय और मुकदमों तक पहुंच सिर्फ एक छोटे से तबके तक सीमित हो जाती है। साथ ही महंगे वकीलों और अपरिचित शब्दावली के जाल में फंसकर आम आदमी के लिए न्याय पाना असंभव हो जाता है।

गौरतलब है कि पाठक जी एवं उनके साथियों का आंदोलन महज अंगरेजी बनाम हिंदी का नहीं है, वे तो तमिलनाडु उच्च न्यायालय में तमिल, हिंदी और अंगरेजी, बंगाल उच्च न्यायालय में बांग्ला, हिंदी, अंगरेजी और इसी तरह अन्य उच्च न्यायालयों में अंगरेजी, हिंदी के साथ स्थानीय भाषा में कामकाज कराने के लिए संविधान संशोधन की मांग कर रहे हैं। चैन्नई उच्च न्यायालय के वकीलों ने भी कुछ समय पहले वहां का कामकाज तमिल में करने को लेकर आंदोलन किया था।

लेकिन इस धरने का जवाब भी दमन और उपेक्षा से दिया गया है। 17 अप्रैल को राहुल गांधी की मौजूदगी वाली एक मीटिंग के बाद, जब पाठक और उनके साथी अपने धरने को जारी रखते हुए नारेबाजी कर रहे थे, तो पुलिस ने उन्हें जबरन पुलिस वाहन में ठूस दिया। जब वे प्रतिरोध में बाहर निकले तो ओमप्रकाश और सुखवीर नामक दो पुलिस वालों ने बेरहमी से जूतों से उनकी पिटाई की और उन्हें थाने ले जाया गया। इसकी नामजद शिकायत के बावजूद अभी तक पुलिसवालों पर कोई कार्रवाई नहीं हुई है।

लेकिन इसके बावजूद अगले दिन से श्यामरूद्र जी ने अपना धरना जारी रखा है। वे लगभग रोज ही पुलिस द्वारा तुंगलक रोड थाने ले जाए जाते हैं, लेकिन अगले दिन दोबारा धरना स्थल पर अपने दोनों साथियों सहित मौजूद होते हैं।

सनद रहे कि श्यामरूद्र पाठक ने अस्सी के दशक में अपने छात्र जीवन में आईआईटी में बी टेक के आखिरी साल का प्रोजेक्ट हिंदी में लिखने की मांग को लेकर आंदोलन किया था और सफलता पाई थी।

श्यामरूद्र पाठक और साथियों के जब्बे को सलाम करते हुए यह प्रश्न उठता है कि आखिर कब तक इस देश में अंगरेजी का वर्चस्व बना रहेगा, जिसके कारण सरकार और सत्ता आम लोगों की पहुंच से बाहर रहेगी।

वैश्वीकरण व बाजार की समाज पर बढ़ती पकड़ और शिक्षा के निजीकरण ने एक समय ताकतवर रहे भारतीय भाषाओं के आग्रह और आंदोलन को हाशिए पर ढकेल दिया है। लेकिन एक न्यायशील, स्वाभिमानी समाज के निर्माण के लिए इसे फिर से खड़ा करना जरूरी है।

(श्यामरूद्र पाठक से फोन नं. 09818216384 पर संपर्क किया जा सकता है।)

- 28, पेरियार छात्रावास, जेएनयू,
नई दिल्ली - 110067 फोन 09013183889

महिला दिवस पर प्रदर्शन

मध्यप्रदेश, इटारसी। महिला दिवस महिलाओं का त्यौहार है। इस दिन दुनिया भर की महिलाएं अपने हक और बराबरी की आवाज बुलंद करती हैं। महिलाएं अपने को जानें, शक्ति को जागृत करें। साल में एक दिन नहीं, हर दिन महिलाओं का हो।

ये विचार इटारसी में 8 मार्च को अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस पर आयोजित महिलाओं की सभा में माधुरी बहन ने रखे। जागृत आदिवासी दलित संगठन की कार्यकर्ता माधुरी बहन इस मौके पर बड़वानी से आई थी। सभा का आयोजन नारी जागृति मंच ने गोठी धर्मशाला में किया था। इस अवसर पर मंच की अध्यक्ष दीपाली शर्मा ने बताया कि इस संगठन का जन्म क्यों और किन परिस्थितियों में हुआ। मृदुला चौधरी ने संचालन किया।

सभा के बाद इटारसी शहर में एक विशाल रैली निकाली गई जिसमें सैकड़ों की संख्या में महिलाओं ने नारे लगाते हुए भाग लिया। उनके हाथों में तख्तियां भी थी। एक परचा भी बांटा गया। रैली का समापन जयस्तंभ



चौक पर हुआ, जहां पर सभी महिला-पुरुषों ने हाथ उठाकर सामूहिक रूप से नौ सूत्री संकल्प लिया। महिलाओं पर हर तरह के अत्याचार का विरोध, बलात्कारियों व दहेज लोभियों का सामाजिक बहिष्कार, बेटे-बेटी में भेदभाव न करने, भ्रूण हत्या और बालविवाह न करने, घूँघट-परदा बंद करने, महिलाओं की पिटाई का विरोध करने, मां-बहन की गालियों को बंद करने, अश्लील विज्ञापनों के खिलाफ मुहिम चलाने और बराबरी व न्याय पर आधारित एक नया समाज बनाने का संकल्प सबने लिया।

- विद्या मिश्रा

शिक्षा के अधिकार को लेकर कार्यक्रम

दिल्ली। अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक दिल्ली में 23 और 24 मार्च को हुई। इस बैठक में तय किया गया कि 20 से 22 अप्रैल तक देश में जगह-जगह शिक्षा अधिकार कानून की असफलता को उजागर करने के लिए कार्यक्रम किए जाएंगे। इस कानून को लागू करने की तीन साल की मियाद 31 मार्च को पूरी हो गई। लेकिन इसने देश में शिक्षा

के निजीकरण और व्यवसायीकरण तथा सरकारी स्कूलों की दुर्गति को ही बढ़ावा दिया है। मंच पहले से इस कानून के बारे में जो चेतावनी दे रहा था, वह सही साबित हुई है। इसी के साथ 1 मई को मई दिवस के कार्यक्रमों में मजदूर आंदोलनों के साथ मिलकर शिक्षा के अधिकार और साझा-समान स्कूल प्रणाली की मांग करने का फैसला भी लिया गया।

मुंबई महानगरपालिका द्वारा अपने सारे

1174 स्कूल निजी हाथों में देने के खिलाफ 'मुंबई शिक्षण कंपनीकरण विरोधी अभियान' चलाया जा रहा है। इसकी पहल मंच से जुड़े महाराष्ट्र के संगठनों ने की है। यह तय किया गया कि इस संघर्ष के लिए देश भर से समर्थन

जुटाया जाएगा।

उच्च शिक्षा में प्रस्तावित विधेयकों के बारे में अगस्त 2013 में दिल्ली में एक राष्ट्रीय सेमिनार किया जाएगा।

-रमेश पटनायक

शिक्षा के अधिकार को लेकर वियुस की बैठकें

पश्चिम बंगाल / ओडिशा, जलपाईगुड़ी / बरगढ़। 1 अप्रैल 2013 को शिक्षा अधिकार कानून के लागू होने के तीन साल पूरे हो गए। इस कानून के क्रियान्वयन की मियाद भी इसके साथ पूरी हो गई। इन तीन सालों के बाद शिक्षा और रोजगार की क्या स्थिति है, इसका जायजा लेने के लिए विद्यार्थी युवजन सभा ने देश के दो सुदूर पिछड़े जिलों के ग्रामीण अंचलों में बैठकें आयोजित की। वियुस की राष्ट्रीय महामंत्री के रूप में मैंने इन में शिरकत की।

31 मार्च से 2 अप्रैल तक पश्चिम बंगाल के जलपाईगुड़ी जिले के पूर्व मल्लिकापाड़ा, जटेश्वर और धनीरामपुर गांवों में युवाओं और विद्यार्थियों के साथ बैठक हुई। उत्तर बंगाल का यह इलाका प्राकृतिक रूप से संपन्न होते हुए भी आर्थिक व शैक्षणिक रूप से बहुत पिछड़ा और गरीब है। सिलीगुड़ी स्थित उत्तर बंग विश्वविद्यालय को छोड़कर पूरे इलाके में स्नातकोत्तर पढ़ाई करने के लिए कोई कॉलेज नहीं है। विश्वविद्यालय में प्रवेश परीक्षा के जरिए दाखिला मिलता है और काफी कम बच्चों को मौका मिलता है। एम.ए. करने के लिए विद्यार्थियों को कोलकाता, कानपुर या बनारस तक जाना पड़ता है। इतना सब करने के बाद एम.ए. पास छात्र बेरोजगार घूम रहे हैं। यहां की खेती काफी अच्छी है। कई जगह तीन फसलें ली जाती हैं। यहां से सब्जियां असम, कोलकाता और भूटान तक जाती हैं। लेकिन समर्थन मूल्य और खरीदी की व्यवस्था न होने के कारण इस साल किसान अपनी टमाटर की पैदावार को सड़कों पर फेंकने को मजबूर हो गए। खेती में भी युवाओं को बेहतर जिंदगी की उम्मीद नहीं दिखाई देती।

ओडिशा के बरगढ़ जिले में 7 से 10 अप्रैल तक बरगढ़, नयागांव, बड़दल्लीपाली और एक अन्य गांव की

बैठकों में अलग तरह की स्थितियां सामने आईं। सरकारी स्कूलों में बच्चों की दर्ज संख्या कम हो रही है। कई जगह प्राइमरी स्कूल में एक या दो शिक्षक हैं। यह शिक्षक पढ़ाने के बजाए लिखा-पढ़ी या अन्य सरकारी कामों में व्यस्त रहता है। नवी कक्षा के बच्चों को पढ़ना-लिखना और जोड़-घटाना भी नहीं आता है। गांवों में भी आरएसएस से जुड़े सरस्वती शिशु मंदिर या सरस्वती विद्यालय खुल गए हैं, जिनमें बच्चों की संख्या बढ़ रही है।

इनमें से एक गांव के बच्चे बगल में प्रस्तावित एस्बेस्टॉस कारखाने के विरोध में चल रहे आंदोलन का हिस्सा हैं। एक दूसरे गांव की लड़कियों और महिलाओं ने स्थानीय किसान आंदोलन के साथ-साथ, बड़ी संख्या में ओडिशा के अन्य हिस्सों में जाकर पोस्को, नियमगिरी और गंधमार्दन के खनन विरोधी आंदोलन में भाग लिया है। उन्हें किताबी पढ़ाई नहीं मिल पा रही है, लेकिन जीवन के संघर्ष का पाठ पढ़ने में उनकी तत्परता दिखाई दे रही है। देश के लिए कुछ कर गुजरने और शिक्षा व्यवस्था को सुधारने की इच्छा भी उनमें दिखाई देती है। बैठकों में मौजूदा झूठे शिक्षा अधिकार कानून की कमियों पर और शिक्षा के निजीकरण-व्यवसायीकरण की बुराईयों पर चर्चा हुई। अपने गांवों में स्कूलों की हालत सुधारने के लिए कदम उठाने का भी फैसला हुआ।

अगले कुछ महीनों में विद्यार्थी युवजन सभा शिक्षा और रोजगार के हक को लेकर इसी तरह के दौरे व बैठकें देश के अन्य हिस्सों में भी करेगी। एक तरह से यह 'सरकारी शिक्षा व्यवस्था गांवों में अच्छी कैसे हो' की मुहिम की शुरुआत है।

- शिउली वनजा

जीरो बजट खेती का प्रशिक्षण

ओडिशा, बरगढ़। विगत 16 से 20 फरवरी को बरगढ़ के चकरकेंद्र गांव के पास बालगोपाल गौशाला में जीरो बजट प्राकृतिक खेती प्रशिक्षण शिविर संपन्न हुआ। समाजवादी जनपरिषद द्वारा आयोजित शिविर में कृषि वैज्ञानिक सुभाष पालेकर ने प्रशिक्षण दिया। इस शिविर में ओडिशा व छत्तीसगढ़ के 350 प्रतिभागियों ने हिस्सा लिया।

पांच दिवसीय प्रशिक्षण शिविर में सुभाष पालेकर ने कृषि व प्रकृति विज्ञान के बारे में विस्तार से समझाया। एक देशी गाय के गोबर व गोमूत्र से जीवामृत और बीजामृत प्रयोग करके 30 एकड़ तक के खेत को उर्वर बनाया जा सकता है। यही हमारा मूल सिद्धांत है। इसके साथ प्रकृति में आसपास उपलब्ध पेड़-पौधों व डाल-पत्तों से बीमास्त्र, आग्नेयास्त्र, ब्रह्मास्त्र, दंशपर्नी अर्थ जैसे नाम देकर कीटनाशक व रोगनाशक दवा बनाने के गुर भी सिखाए। श्री पालेकर ने बताया कि गांव का पैसा गांव में रहे, शहर को नहीं जाए। उल्टा शहर का पैसा गांव में

आना चाहिए।

उन्होंने कहा कि जैविक (आर्गेनिक) खेती शोषण का नया षडयंत्र है। जैविक कृषि पद्धति का मूलाधार वर्मी कंपोस्ट, बायो फर्टिलाइजर, बायो पेस्टासाईड आदि है। यह वैकल्पिक खेती चार गुना खर्चीली है और इसमें किसान बाजार पर ही निर्भर बना रहेगा।

सुभाष पालेकर द्वारा जीरो बजट कृषि प्रशिक्षण शिविर से किसानों में उत्साह पैदा हुआ है। ओडिशा में यह पहला प्रशिक्षण शिविर था। किसान इस ओर बढ़े तो यह वैकल्पिक खेती पद्धति किसानों के लिए बहुत उपयोगी होगी।

जिस बालगोपाल गौशाला में प्रशिक्षण शिविर हुआ वहां गुजरात की गिर प्रजाति की देशी गायों का पालन होता है। पालेकरजी ने भी गाय के गोबर व गोमूत्र से जीवामृत को ही खेती का आधार बताया। शिविर स्थल का नाम किशन पटनायक ग्राम रखा गया था।

- लिंगराज

पुलिस जुल्म के खिलाफ धरना

बिहार, गया। पुलिस द्वारा बेगुनाह नौजवानों को थाने में यातनाएं देने के खिलाफ समाजवादी जनपरिषद द्वारा 10 अप्रैल को गया में मगध प्रमंडल के आयुक्त कार्यालय पर धरना दिया गया। धरने में मगध प्रमंडल के करीब एक सौ लोग शामिल हुए।

विगत अक्टूबर 2012 में जहानाबाद जिले के मखदुमपुर थाने में और बाद में स्वयं पुलिस अधीक्षक के आवास पर धीरेश कुमार नामक युवक को बुरी तरह

यातनाएं दी गईं। इसकी शिकायत करने पर भी दोषी पुलिस अधिकारियों पर कार्रवाई न करने पर यह धरना आयोजित किया गया।

धरने को समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय अध्यक्ष लिंगराज, राष्ट्रीय उपाध्यक्ष सुनील और पूर्व राष्ट्रीय सचिव चंचल मुखर्जी ने संबोधित किया। धरने के अंत में आयुक्त को ज्ञापन सौंपा गया।

- संजय श्रीवास्तव

सजप का जिला सम्मेलन

उत्तरप्रदेश, बलिया। समाजवादी जन परिषद का बलिया जिले का सम्मेलन आंबेडकर जयंती 14 अप्रैल को नगरा प्राखंड के अहिरौली गांव में संपन्न हुआ। इस सम्मेलन में राजकुमार को जिला अध्यक्ष और नंदलाल

वर्मा को जिला महामंत्री पद की जिम्मेदारी दी गई। सम्मेलन को चंचल मुखर्जी, अफलातून, विक्रमा मौर्य, रामनवमी यादव आदि ने संबोधित किया।

- नंदलाल वर्मा

ओंकारेश्वर बांध प्रभावितों का संकल्प

मध्यप्रदेश, खंडवा। नर्मदा नदी पर बन रहे ओंकारेश्वर बांध प्रभावितों ने 25 फरवरी को ओंकारेश्वर शहर में विशाल रैली निकाली। रैली में शामिल लगभग 5000 प्रभावितों ने संकल्प लिया कि वे सत्य, अहिंसा, त्याग और बलिदान के संघर्ष के द्वारा अपने अधिकार लेके रहेंगे। प्रभावितों ने सरकार को चेतावनी दी कि यदि प्रभावितों के पुनर्वास के बारे में ठोस निर्णय नहीं लिए गए तो विस्थापित राजधानी भोपाल में और नर्मदा घाटी में कड़े संघर्ष पर उतरेंगे।

उल्लेखनीय है कि ओंकारेश्वर बांध में हुए 17 दिन के जल सत्याग्रह के बाद 10 सितंबर, 2012 को राज्य सरकार ने ओंकारेश्वर बांध प्रभावितों के पुनर्वास के संबंध में घोषणा की थी कि प्रभावितों को जमीन के बदले जमीन दी जाएगी। इसके साथ ही मंत्रियों की एक समिति का गठन कर पुनर्वास की सभी समस्याओं का निवारण करने का भी निर्णय लिया गया था। समिति की पहली बैठक 13 सितंबर, 2012 को और दूसरी बैठक 27 सितंबर, 2012 को ओंकारेश्वर में हुई। इन बैठकों में विस्थापितों द्वारा पुनर्वास के संबंध में अपनी शिकायतें विस्तृत रूप में बताई गईं। विस्थापितों द्वारा समिति के सामने पुनर्वास से संबंधित 7000 से अधिक शिकायतें दर्ज की गई हैं। लेकिन पांच माह बाद भी विस्थापितों के पुनर्वास के विषय में कोई ठोस कार्रवाई नहीं हुई।

लगभग 5000 महिला पुरुषों ने ओंकारेश्वर में रैली निकालकर पूरे शहर को उनके अधिकारों के नारों से गुंजा दिया। रैली निकालकर प्रभावित नागर घाट पहुंचे और वहां नर्मदा के जल में खड़े होकर संकल्प लिया कि चाहे उन्हें बलिदान ही क्यों न देना पड़े, वे अपने अधिकार लेकर रहेंगे। नागर घाट पर ही एक आम सभा का भी आयोजन किया

गया और सभा के बाद अनुविभागीय अधिकारी को मंत्रियों की समिति के नाम ज्ञापन दिया गया।

आंदोलन के प्रमुख कार्यकर्ता आलोक अग्रवाल ने कहा कि प्रभावित सिर्फ अपने वाजिब अधिकार मांग रहा है। सरकार इन अधिकारों को न देकर प्रभावितों को सिर्फ परास्त करना चाहती है। पर पिछले सालों में हमने अपने अनेक संघर्ष और जीतें हासिल की हैं और आगे भी विस्थापितों की ही जीत होगी। यदि सरकार अधिकार नहीं देती है तो इस बरसात में पूरी नर्मदा घाटी में जल सत्याग्रह होगा।

सभा को चित्तरूपा पालित, आलोक अग्रवाल, कलाबाई (सरपंच ग्राम घोगलगाव), सकुबाई, नर्मदाबाई आदि ने संबोधित करते हुए मांग की कि उनके सभी पुनर्वास के अधिकार तत्काल दिए जाएं। उन्होंने मांग की कि सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के अनुसार या तो प्रभावितों को सिंचित एवं उपजाऊ निजी जमीन खरीदकर दी जाए या जमीन खरीदने हेतु वर्तमान बाजार दर पर अनुदान दिया जाए।

भूमिहीन प्रभावितों को जीविका चलाने के लिए न्यूनतम 2.5 लाख रुपए का अनुदान दिया जाए। ओंकारेश्वर परियोजना की डूब में आ रहे देवास जिले के 5 गांव धाराजी, कोथमीर, नरसिंगपुर, नयापुरा एवं गुवाड़ी की जमीनों का अधिग्रहण किया जाए और प्रभावित होने वाले सभी आदिवासी परिवारों का पुनर्वास किया जाए।

प्रभावितों द्वारा मंत्रियों की समिति के समक्ष प्रस्तुत 7000 आवेदनों का निराकरण प्रभावितों की सुनवाई कर दिया जाए। इंदिरा सागर परियोजना प्रभावितों को सभी पुनर्वास के अधिकार दिए जाएं।

- गजराज सिंह

तनाव

साहित्य की पत्रिका



विश्व के महत्वपूर्ण कवियों की कविताओं की अनुवाद शृंखला

125 वां अंक

वंशी माहेश्वरी, संपादक, सुजल अपार्टमेंट, 602, म्हात्रे ब्रिज के पास, धरकुल लॉन्स

के सामने, कर्वेनगर, पुणे 411055 महाराष्ट्र फोन- 09822444300 वार्षिक शुल्क (4 अंक)-35 रु.

दिल्ली-मुंबई औद्योगिक गलियारे का विरोध

महाराष्ट्र, मणगांव। रायगढ़ जिले के मणगांव में 10 अप्रैल से लगातार गांववासियों का अनिश्चितकालीन धरना चल रहा है। इस जिले की मणगांव, रोहा और ताला तहसीलों के 78 गांवों की 67,500 एकड़ भूमि का अधिग्रहण किया जा रहा है। इस भूमि का उपयोग प्रस्तावित दिल्ली-मुंबई औद्योगिक गलियारे के तहत दिधी बंदरगाह औद्योगिक क्षेत्र बनाने के लिए किया जाएगा। किसानों और गांववासियों ने एक मत से इसका विरोध करने का फैसला किया है।

महाराष्ट्र की 'जगतिकीकरण विरोधी कृति समिति' (वैश्वीकरण विरोधी संघर्ष समिति) के बैनर तले यह धरना 10 अप्रैल को शेतकरी कामकार पार्टी के नेता एन.डी.



पाटिल की मौजूदगी में शुरू हुआ। हर दिन एक-एक गांव के लोग आकर धरने में शामिल होते हैं। महिलाएं व बच्चे भी बड़ी संख्या में आते हैं। इस तरह यह धरना मई के मध्य तक चलेगा।

अभी इस परियोजना की विस्तृत प्रोजेक्ट रिपोर्ट तैयार नहीं हुई है। कानून के मुताबिक जरूरी पर्यावरण प्रभाव मूल्यांकन भी नहीं हुआ है। अचरज की बात है कि इसके बावजूद महाराष्ट्र सरकार ने भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया शुरू कर दी है। संसद में नया भूमि अधिग्रहण विधेयक लंबित है। महाराष्ट्र सरकार ने नया कानून बनने तक इंतजार करने की भी जरूरत नहीं समझी।

- उल्का महाजन

अपराधियों के खिलाफ सभा

उत्तरप्रदेश, मऊ। विगत 19 अप्रैल को मऊ जिले के मधुबन नगर में शहीद स्मारक पर अपराधियों के बढ़ते हौसले और उनको प्रदेश सरकार द्वारा संरक्षण के विरोध में सर्वदलीय सभा हुई। गौरतलब है कि समाजवादी जन परिषद के प्रांतीय संगठन मंत्री विक्रमा मौर्य पर 21 मार्च को हमला किया गया। वे साईकिल पर जा रहे थे और अपराधियों ने उन पर सुमो गाड़ी चढ़ाने की कोशिश की। सजप के साथी राजेन्द्र मौर्य की हत्या के मामले में विक्रमा मौर्य ने अदालत में गवाही दी थी, इसलिए वे नाराज थे। हमलावरों का संबंध प्रदेश के सत्तादल समाजवादी पार्टी से है। इस मामले में सजप द्वारा वाराणसी आईजी को मिलने और उनके हस्तक्षेप के बाद ही हमलावरों पर धारा

307 (हत्या का प्रयास) कायम हो पाई। लेकिन हत्या के मामले में जमानत पर रिहा अपराधियों को अभी तक गिरफ्तार नहीं किया गया है।

सभी में वक्ताओं ने प्रदेश में बढ़ते अपराधों और अपराधियों के बढ़ते हौसलों को लेकर प्रदेश सरकार को आड़े हाथों लिया। जनवादी सोशलिस्ट पार्टी के ओमप्रकाश ठाकुर के अलावा समाजवादी जनपरिषद के चंचल मुखर्जी, अफलातून, रामजनम, रामनवमी यादव, चौधरी राजेन्द्र, दीपक पांडे, रामकेवल चौहान, भाजपा के मधुसूदन पांडे, आदि ने अपने विचार व्यक्त किए। अध्यक्षता जीउतबंधन चौहान ने की और संचालन जितेंद्र त्यागी ने किया।

- अफलातून

बिटिया भार नहीं, सृष्टि की जननी है

भारतीय संस्कृति में नारी पूजनीया रही है इनका स्थान ऊंचा रहा है। जैसे पहले राधा तब कृष्ण, सीता तब राम, गौरी तब शंकर। आज भौतिकता के आंधी में और अपंग संस्कृति तथा विलासिता के सागर में न्याय, नैतिकता, संस्कार, आदर्श, मर्यादा सब लुप्त होते जा रहे हैं और एक मात्र उद्देश्य हो गया है पैसा। यही कारण है कि बिटिया को लोग भार समझने लगे हैं जो विनाश का कारण बनेगा। बिटिया भार नहीं सृष्टि की जननी है। इसी की कोख से निकले ईसा मसीह, सुकरात, संत कबीर, बुद्ध, गांधी, डॉ. लोहिया, सुभाष और बाबा साहब भीमराव अंबेडकर। हमारी दोहरी मानसिकता कैसी है? एक तरफ कन्या को पूजते हैं जेवना कराते हैं और दूसरी तरफ भ्रूण हत्या करते हैं। पैसों

के लिए महिलाओं को जिंदा जलाते हैं। क्या यही हमारी भारतीय संस्कृति है? दशहरा के मौके पर बड़े निष्ठाभाव से आदर एवं भक्ति के साथ कलाकार दुर्गा प्रतिमा बनाता है। दस दिनों के बाद उस प्रतिमा को विसर्जित कर देते हैं। जो जीवित साक्षात देवी है उसके साथ जघन्य अत्याचार करते हैं और धर्म एवं संस्कृति का ढोंग रचते हैं। यह कैसी बिडंबना है? गणना के मुताबिक महिलाओं की संख्या घट रही है। संभलो, चेतो! जो तुम्हारा सामंती सोच और दिमाग है उसको बदलो, वर्ना हो जाएगा सर्वनाश। जिस साक्षात देवी से सब भौतिक सुख प्राप्त होता है उसे ही हम प्रताड़ित करते रहते हैं। यह एक विचित्र बिडंबना की बात है।

- सीताराम सिंह, पूर्व सांसद, गांधी आश्रम, हाजीपुर

एक जज ऐसा भी

मार्च के पहले सप्ताह में चैन्नई उच्च न्यायालय के न्यायाधीश न्यायमूर्ति के चंद्र रिटायर हुए तो मीडिया की खबरों में छाए रहे। इसका कारण यह था कि उन्होंने कई अटपटे काम किए।

सेवानिवृत्ति के दिन उच्च न्यायालय आकर सुबह ही उन्होंने सरकारी कार वापस कर दी और शाम को लोकल ट्रेन से घर वापस गए। उन्होंने वापस जाने के लिए महीने भर का पास (सीजन टिकट) बनाया। यानी ऐसा भी नहीं कि केवल दिखाने के लिए एक लोकल में यात्रा की हो। उन्होंने महंगे सितारा होटल में विदाई समारोह के आयोजन से मना कर दिया। विदाई समारोह में और फिर पत्रकारों से मुखातिब होते वक्त वे धोती और शर्ट पहने थे। उन्होंने कहा कि वे रिटायर होने के बाद न्यायाधिकरणों, प्राधिकरणों, आयोगों आदि में कोई पद नहीं लेंगे (जैसा कि आम तौर पर दूसरे जज करते हैं)। वकालत भी नहीं करेंगे, सामाजिक काम करेंगे।

मुख्य न्यायाधीश को अपनी संपत्ति की घोषणा



देने वाले वे पहले हाईकोर्ट जजों में से थे। सेवानिवृत्ति के दिन उन्होंने स्वेच्छा से फिर अपनी संपत्ति की घोषणा की।

जब वे जज थे, तो भेंट लाने वालों के लिए उनके कक्ष के बाहर एक सूचना लगी रहती थी- “फूल नहीं - यहां कोई देवता नहीं है, फल नहीं- कोई भूखा नहीं है, शॉल नहीं- कोई टंड से कांप नहीं रहा है”।

अपने कार्यकाल में उन्होंने 6 वर्ष में 96000 मुकदमे निपटाए, जो एक रिकार्ड है। वे ‘माय लॉर्ड’ के रूप में संबोधित किए जाने से मना करते थे। उनकी सुरक्षा के लिए एक पुलिस सब-इंस्पेक्टर को लगाया गया था, जिसे उन्होंने वापस कर दिया था। अपनी सरकारी कार में वे लाल बत्ती भी नहीं लगाते थे।

अपने कार्यकाल में उन्होंने जो महत्वपूर्ण फैसले दिए, उनमें कुछ इस प्रकार हैं - मंदिरों में महिला पुजारी हो सकती है; सभी जातियों के लिए एक ही श्मशान / कब्रिस्तान होना चाहिए; नाटक करने के लिए पुलिस की अनुमति नहीं है।

(संकलित)

आखिरी पन्ना

जेपी से अंतिम मुलाकात

- सीताराम सिंह, पूर्व सांसद एवं स्वतंत्रता सेनानी

आपातकाल की समाप्ति के बाद वैशाली जिला के मुख्यालय हाजीपुर में एक महती सभा का आयोजन किया गया था। इस सभा को संबोधित करने के लिए जे.पी. यहां आए थे। जे.पी. द्वारा संचालित संपूर्ण क्रांति आंदोलन के दौरान बिदुपुर प्रखंड पर प्रदर्शन के क्रम में हमारे



वरीय साथी अमीर सिंह (गुरूजी) के पुत्र अजीत और विशेश्वर जो उस समय छात्र थे, पुलिस की गोली से शहीद हो गए थे। उनके परिवार को सांत्वना देने के लिए हमारे साथियों ने मुझ पर जिम्मेदारी सौंपी कि आप जे.पी. को गुरूजी के घर ले जाईए। जे.पी. वहां पहुंचे, एक घंटा रुके, ढाढ़स दिलाकर वहां से लौटे। जिस गाड़ी में जे.पी. गुरूजी के घर गए थे, उस गाड़ी में मात्र तीन आदमी ही थे- जे.पी., मैं और ड्रायवर। रास्ते में बातचीत के सिलसिले में मैंने जे.पी. से पूछा कि अब तो आपका संपूर्ण क्रांति का आंदोलन सफल हुआ, भविष्य में क्या करना है- मार्गदर्शन दीजिए। जे.पी. भारी मन से बोले- हम विफल हो गए। व्यवस्था परिवर्तन के लिए आंदोलन किया था, हुआ सत्ता परिवर्तन। जिस तरह गांधी के तथाकथित अनुयायियों ने गांधी की जिंदगी में ही उन्हें नकार दिया था, उसी तरह संपूर्ण क्रांति के वाहकों ने मुझे भी नकार दिया है।

जे.पी. ने एक बयान के जरिये मोरारजी भाई से कहा था कि चुनाव घोषणापत्र में जो

वादा किया है, उसे पूरा करो। मोरारजी ने पलटवार करके कहा कि सरकार हमको चलाना है। कोई जरूरी नहीं कि हम सभी वादे पूरा करें और जे.पी. की बातें मान लें। उसी तरह की एक दूसरी घटना बिहार की भी है। बिहार में कोई आंदोलन हुआ था। उस समय बिहार के मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर

थे। जे.पी. ने समाचार पत्रों के माध्यम से कर्पूरी ठाकुर को कुछ सुझाव दिए थे। ठीक मोरारजी भाई की तरह ठाकुर ने भी जवाब दिया था- सरकार हमको चलाना है। जयप्रकाश जी की सभी बातें मानना कोई जरूरी नहीं है। पुनः मैंने मार्गदर्शन वाली बात दुहराई। उन्होंने दुखी मन से कहा- अब मैं कुछ भी करने में असमर्थ हूं। तुम लोग युवा हो, धीरज और साहस हो तो जन चेतना जगाओ, लोगों को गोलबंद करो। जब जनता रोड पर आएगी, तभी व्यवस्था में बदलाव आएगा।

लोकतंत्र के बारे में क्या पूछते हो, यहां राजनीतिक समानता है, लेकिन आर्थिक विषमता है। बड़ा उद्योगपति, पूंजीपति, बड़ा राजनेता, बड़ा नौकरशाह तीनों का गठजोड़ है। उस जाल में लोकतंत्र फंस गया है, उसकी रूह छटपटा रही है। जिस तरह बहेलिया चिड़ियों को फंसा लेता है, हाथ पैर तो वह मारती है, पर जाल से निकल नहीं पाती, रूह छटपटाती रहती है। संसद तो ऐय्याशी का अड्डा बन गई है, इसमें परिवर्तन संभव नहीं।